जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 9 • सितंबर, 2006

With best compliments from :

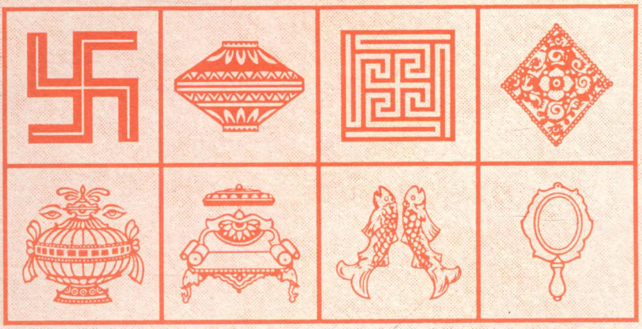

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 ● सितंबर, 2006 ● अंक 9

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
वृत्ति, प्रवृत्ति और सम्यक् चिंतन

17
डॉ. एस. राधाकृष्णन
भारतीय दर्शन की विकास-धारा

21
डॉ. संपूर्णानंद
शिक्षा का अर्थ

●
आवरण
अडिग

अनुभूति

25
आचार्यश्री तुलसी
पुरुषार्थी जीवन के रचेता : आचार्य भिक्षु

28
मुनि सुखलाल
विनयात् याति पात्रताम्

33
साध्वी कनकश्री
रंगत प्रेम चढाय दे ऐसा गुरु करि लेह

38
कहानी
श्रीनरेश मेहता
स्मृतिजीव्या

42
कविता
सरोजकुमार की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
आचार-व्यवहार

शीलन

45
साध्वी विश्रुतविभा
जिसकी जीवन-पोथी में सफलता है, सिद्धि है

50
साध्वी श्रुतयशा
प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः

54
बालकथा
वनिता वैद
बेटा! क्या मैं ज्यादा मांग रहा हूं

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

हम ऐसा नहीं जानते थे

भीखणजी स्वामी ने हेमजी स्वामी से कहा—'हमने उन्हें (अपने पूर्व-गुरु को) छोड़ा, तब पांच वर्ष तक हमें पूरा आहार भी नहीं मिला। घी और चिकनाई की तो बात ही कहां? वस्त्र के रूप में कभी-कभी 'वासती' मिलता; उसके थान की कीमत सवा रुपया थी।' भारमल कहता—'आप इसका उत्तरीय (पछेवड़ी या चादर) करें।' तब मैं कहता—'एक चोलपट्टा (अधोवस्त्र) तुम करो और एक मेरे लिए करो।'

हम सब साधु गोचरी में आहार-पानी लाकर जंगल में चले जाते। आहार-पानी को वृक्षों की छांह में रख कर हम सूर्य का आतप लेते। शाम को गांव में लौट आते।

इस प्रकार हम कष्ट सहते थे। कर्म-बंधन को तोड़ते थे।

हम ऐसा नहीं जानते थे कि हमारा मार्ग जमेगा और हमारे संघ में इस प्रकार स्त्री-पुरुष दीक्षा लेंगे और इस प्रकार श्रावक-श्राविका होंगे।

हमने सोचा था आत्मा का कार्य सिद्ध करेंगे, अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्राण न्योछावर कर देंगे। यह सोचकर हम तपस्या करते थे।

बाद में कोई-कोई व्यक्ति हमारे सिद्धांत में विश्वास करने लगा, तत्त्व को समझने लगा।

तब थिरपाल, फतैचंद आदि हमारे साथ वाले साधुओं ने कहा—'लगता है लोग तत्त्व को समझेंगे, फिर आप इतनी कठोर तपस्या क्यों करते हैं? तपस्या करने के लिए तो हम हैं ही। आप बुद्धिमान हैं, आप धर्म का उद्योत करें, लोगों को तत्त्व समझाएं।' उसके बाद हम विशेष पुरुषार्थ करने लगे। हमने आचार और अनुकंपा की चौपइयां रची, व्रत-अव्रत की चौपई रची। बहुत लोगों को तत्त्व समझाया, फिर व्याख्यानों की रचना की। •

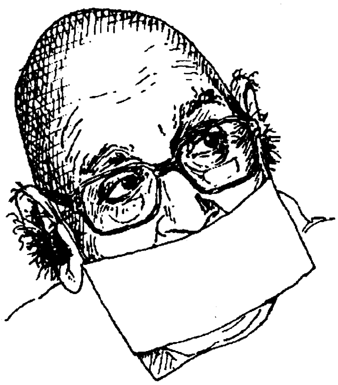

सामाजिकता वहीं स्वस्थ हो सकती है, जहां सामुदायिक जीवन के प्रति निष्ठा हो। वैयक्तिक स्वतंत्रता का बहुत महत्त्व है, पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधनों का स्थान बहुत नीचा होना चाहिए। वैयक्तिकता केवल धर्म की साधना के लिए ही उपयुक्त है। लगता है, इस क्षेत्र में उलटी गंगा बह रही है। आत्म-साधना के क्षेत्र में वैयक्तिकता होनी चाहिए, वहां सामुदायिकता हो रही है। वहां आदमी सोचता है कि जब सब लोग सदाचार का पालन नहीं करते, तब मैं अकेला ही क्यों करूं? समाज के क्षेत्र में जहां सामुदायिकता होनी चाहिए, वहां व्यक्ति का चिंतन यह होता है कि मैं दूसरों की, किन-किन की चिंता करूं, मुझे अपनी रोटी पका लेनी चाहिए।

एक धार्मिक आदमी सोचता है, मुझे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए—जिससे मेरी आत्मा का पतन हो। यह सदाचार का धार्मिक आधार है। एक आदमी सोचता है, मुझे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए—जिससे मेरे राष्ट्र की क्षति हो। यह सदाचार का राष्ट्रीय आधार है। इन दोनों के मूल्य भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि इनके विकास से भ्रष्टाचार की जड़ें खोखली होंगी।

—आचार्यश्री तुलसी

संतों का स्वभाव परोपकार-परायण होता है। संतों के द्वारा कृत उपकार में विशुद्ध आध्यात्मिकता होती है। इसलिए वहां उपकार भी लोकोत्तर गरिमा लिए हुए होता है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो किसी का सहयोग करना, अभावग्रस्त को अपेक्षित वस्तु उपलब्ध कराना भी बड़ा उपकार है। आवश्यकता है कि व्यक्ति के भीतर अनुकंपा और करुणा का भाव रहे। मन में करुणा का भाव है तो सहयोग करने के लिए हाथ सदैव तैयार रहेंगे।

जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है—ऋजुता। साधक के लिए ऋजुता का विकास अनिवार्य है। जो सरल होता है, उसकी आत्म-विशुद्धि बढ़ती है। उसके भावों में पवित्रता रहती है। जहां विशुद्धि है, पवित्रता है, वहां धर्म भी ठहरता है। जो स्वभाव से सरल होता है, वह सबको प्रिय लगता है। जहां कुटिलता होती है, वहां अप्रियता का भाव पैदा होता है। बच्चा बहुत सरल होता है। जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती है, ज्ञान और अनुभवों में परिपक्वता आती है। अवस्था बढ़ने के साथ-साथ जिस चीज का तेजी से ह्रास होता है—वह है सरलता। जरूरत है सरलता भी उत्तरोतर बढ़ती रहे।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

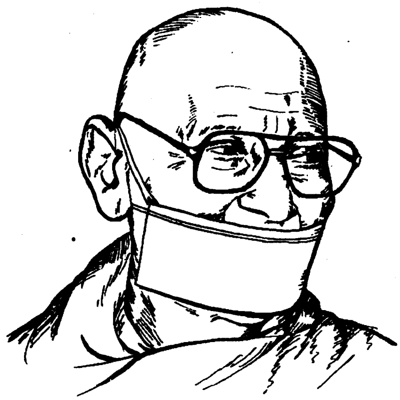

जीवन-विज्ञान का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की चेतना बदलती है। उसकी आस्था बदलती है। उसका आधार यह बनता है कि सद्भावना और सहमति के द्वारा समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। संघर्ष की बात मन से टल जाती है। समस्या को सुलझाने के लिए सद्भावना और सहमति के विकास की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जीवन-विज्ञान का प्रयोग करने वाला व्यक्ति सहमति और सद्भावना की चेतना को जगा लेता है। इससे उसका पारिवारिक जीवन भी सुखी बन जाता है। ऐसा तब घटित होता है जब सौहार्द, सद्भावना और सहमति की बात जागती है। ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति समाज को या किसी व्यक्ति को अपने गुलाम की भांति नहीं देखता। उसकी दृष्टि बदल जाती है। अधिकांशतया कलह इसलिए होते हैं कि अहंकार को चोट पहुंचती है। पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारियों के झगड़ों, अपने नौकरों के झगड़ों में मुख्य कारण मिलेगा दूसरों के अहंकार को चोट पहुंचाना। जो दूसरे के अहंकार को चोट पहुंचाता है, वह यह मान लेता है कि मैं बहुत बड़ा आदमी बन गया। अधिकांश झगड़ों के पीछे यदि कारण खोजा जाए तो पता लगेगा कि कोई बड़ी बात की लड़ाई नहीं है, कोई उद्देश्यपूर्ण बात भी नहीं है, कोई मुद्दा भी नहीं है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के अहं पर चोट की और वह फुफकारने लगा। सांप भी तभी काटता है, जब उसके अहं को चोट लगती है, कोई उस पर पैर रख देता है।

अहंकार को चोट पहुंचाना एक मनोवृत्ति है, तो दूसरी मनोवृत्ति है—समता और मैत्री का अनुभव करना। छोटे से छोटे व्यक्ति को, अपने नौकर और कर्मचारियों को एक मनुष्य की दृष्टि से देखना, चैतन्य की दृष्टि से अनुभव करना—यह है समता की दृष्टि। इससे सारी समस्या सुलझ जाती है। आदमी में अवमानना और अवज्ञा का भाव बहुत प्रबल होता है। जाने-अनजाने वह व्यक्तियों की अवमानना कर देता है। इतिहास को देखें—पता चलेगा राजा ने सत्ता के मद में एक छोटे-से कर्मचारी की अवमानना कर दी, एक छोटे-से नागरिक की अवमानना-कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि सारी सत्ता ही छिन गई और सम्राट् को पदच्युत होना पड़ा। चाणक्य कौन-सा बड़ा था? कोई बड़ा नहीं था। यदि राजा के द्वारा उसकी अवमानना नहीं होती तो शायद इतना बड़ा युद्ध नहीं होता और नंदवंश का विच्छेद भी नहीं होता, किंतु अवमानना हुई और उस अकेले व्यक्ति ने, ब्राह्मण ने संकल्प किया—जब तक नंदवंश का विच्छेद नहीं कर दूंगा, तब तक चोटी नहीं बंधेगी, चोटी खुली रहेगी।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

आचार-व्यवहार

मनुष्यता आचार-व्यवहार पर ही टिकी है। जितना स्खलन आचार-व्यवहार में आता है, उसी अनुपात में मनुष्यता डगमगाती है और समाज उसके दुष्फल भुगतता है। आचार-व्यवहार की कसौटी समाज ही है। समाज में व्याप्त विसंगतियां, विषमता और असहिष्णुता पूरी तरह से मिटना एक आदर्श स्थिति कहलाएगी, पर ऐसा कभी संभव हुआ हो, कोई प्रमाण बतलाना कठिन है। जिस 'रामराज्य' की बात बतलाई जाती है, उस युग में भी पूर्णतः समता-संतुलन नहीं रहा। ऐसा होता तो राम का वनवास और सीता का निर्वासन क्या होता? तब भी यदि हम 'रामराज्य' को आदर्श स्थिति के रूप में अब तक प्रस्तुत कर रहे हैं तो वह इसीलिए कि 'शीर्ष' पर आसीन व्यक्ति भी आचार-व्यवहार के स्तर पर स्खलित होते प्रतीत हों तो उन्हें प्रताड़ना देते गुरेज नहीं होता। किंवदंती के ही आधार पर सीता का निर्वासन हुआ। अलबत्ता उसे उचित इसलिए नहीं माना जा सकता कि 'किंवदंती' को कसौटी पर नहीं चढाया गया और न्याय-मार्ग का वह पतन उस समय देखना पड़ा। यहां आचार और व्यवहार के सम्मुख भी चुनौती थी। निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि सुदृढ़ समाज के लिए सम्यक् आचार-व्यवहार ही आधार-भित्ति हो सकते हैं। किसी भी स्तर पर इनके पतन से बचने की जरूरत है।

आचार और व्यवहार, बल्कि सम्यक् आचार-व्यवहार के 'मानक' कौन नहीं जानता? हम सभी जानते हैं कि एक सभ्य और सुसंस्कृत समाज में आत्मानुशासन, संयम, विनम्रता, पारस्परिक विश्वास आदि होने ही चाहिएं। इनके होने से समाज न केवल संकीर्णता की कारा से मुक्त हो रहता है, समता की सत्ता को भी प्रतिष्ठापित किया जा सकता है। समाज में जब समता की सत्ता स्थापित हो जाती है तो अहिंसक आचरण और सहिष्णुता, प्रेम तथा सत्यप्रियता का आविर्भाव स्वतःस्फूर्त हो सकता है। सम्यक् आचार-विचार के मानक तत्त्व ये ही हो सकते हैं।

वर्तमान समय में हम देख रहे हैं कि इन सभी का गहरा अभाव है और इसीलिए आचार-व्यवहार के स्तर पर भी घना स्खलन है। इनके कारणों में हम जाएं तो पाएंगे कि हमारी सामाजिक आधार-भूमि कमजोर हुई है। जो पकड़ एक समय बहुत दृढ़ और सुघड़ रही, वह आज उतनी ही दयनीय और क्षत-विक्षत है। क्योंकि राजनीतिक सत्ता के सामने सामाजिक सत्ता चेरी की मानिंद है। यहां हम फिर 'रामराज्य' का स्मरण कर सकते हैं। समाज में चर्चा हुई सीता के चरित्र की (झूठ-सच; एक बार अलग रखें) और राजा राम ने उस पर 'एक्शन' ले लिया, भले वह अन्यायपूर्ण ही माना जाए, पर यह तो मानना होगा ही कि राजसत्ता की बिसात

समाज के सम्मुख क्या आज सरीखी ही थी? नहीं। दुर्भाग्य यह है कि आज 'राजसत्ता' जहां समाज की परवाह नहीं करती, वहीं लोकतंत्र के नाम पर भी 'भीड़' का प्रभाव और दबदबा इस कदर सिर चढ़ बोलता है कि 'सच-झूठ' के मानी ही बदल जाते हैं।

जहां भीड़ के चलते या उसके दबाव-प्रभाव के आगे 'सच-झूठ' के अर्थ बदल जाएं तो हम सोच सकते हैं कि स्थिति किस भयानक मोड़ पर आ चुकी है। इसे फिर से लौटाने की और अपनी धुरी पर टिकाने की जरूरत है। इसका उपाय किसी सामाजिक या राजनीतिक सत्ता में तलाशने की बनिस्बत व्यक्ति स्वयं अपने में ही तलाशे—तभी उपाय कारगर सिद्ध हो सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तो कहते ही हैं—'जिस समाज में अपने-आप पर नियंत्रण करने की क्षमता होती है, उस पर राज्य का नियंत्रण बहुत कम होता है।' यह कहते हुए वे कहते हैं—'व्यक्तिगत स्वतंत्रता बहुत व्यापक होती है। जैसे-जैसे समाज में आत्म-नियंत्रण की शक्ति कम होती है, वैसे-वैसे राज्य-शक्ति व्यापक होती जाती है। राज्य बड़ा न हो और व्यक्ति इतना छोटा न हो। इसके लिए आत्म-नियंत्रण की शक्ति का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।' उनका मानना है कि—'इंद्रिय-संयम के बिना समाज शक्तिहीन बन जाता है। सब लोग चाहते हैं, हमारा समाज और राष्ट्र तेजस्वी रहे, पर उसके लिए इंद्रिय-संयम का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।'

ठीक इसी तरह आचार्यश्री महाप्रज्ञजी प्रामाणिकता को भी जरूरी समझते हैं। पर, उनकी प्रामाणिकता का अनूठापन कुछ निराला ही है। वे मानते हैं—'दूसरों के प्रति सच्चा रहना प्रामाणिकता तो है, किंतु यह भाषा कभी भी मुझे आकृष्ट नहीं कर सकी। प्रामाणिकता की जो परिभाषा मुझे आकृष्ट कर सकी, वह है—अपने प्रति सच्चा रहना।'

सच या झूठ पर कोई-सा मुलम्मा चढ़ा लिया जाए, अपना 'सच' या अपना 'झूठ' व्यक्ति स्वयं तो जानता ही है। अतः 'अपने प्रति सच्चा रहना' ही वास्तविक रूप से 'प्रामाणिक' होना है, पर यह भी क्या खुद व्यक्ति पर ही अवलंबित नहीं? विसंगतियों से मुक्ति का रास्ता यही हो सकता है कि व्यक्ति अपने प्रति 'सच्चा' रहे। अपना 'सच' या अपना 'झूठ' व्यक्ति स्वयं ही जानता है। अतः प्रामाणिकता की कसौटी व्यक्ति स्वयं ही हो सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसीलिए यह तक कहते हैं—'जो अपने प्रति सच्चा नहीं होता, वह राष्ट्र के प्रति कभी भी सच्चा नहीं होता।' और तब वे यह भी कहते हैं कि—'प्रामाणिकता लोकतंत्र का सौंदर्य है।'

लोकतंत्र की विद्रूपता आज सर्वत्र दृष्टिगत हो रही है। क्योंकि प्रामाणिकता का सिरे-से ही अभाव है। लोकतंत्र से बेहतर शासन-प्रणाली कोई अन्य हो सकती है—यह मान पाना कठिन है। पर, उसकी बेहतरी जिन सूत्रों से संभव है, यह जरूरी है कि उस ओर लौटा जाए। इसकी शुरुआत हम अपने आचार और व्यवहार से ही कर सकते हैं। हमें यह मानना होगा कि बहुसंख्य भारतीय जन इस दृष्टि से काफी संतुलित हैं, पर वे, जो किसी-न-किसी रूप में सक्षम-समर्थ हैं— सवाल उनका है। वे, जो राजसत्ता, धनसत्ता, धर्मसत्ता पर आरूढ़ हैं और वे—जिनके पास भुज-बल और जन-बल है, देखना उनको है। लाजिमी तौर पर परिवर्तन का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। समाज का वह वर्ग, जो इस श्रेणी में नहीं आता—हमेशा अनुगामी रहा है। वे—जो अनुगामी हैं, उन पर उन्हीं का असर होता है जो अग्रणी होते हैं। आज सवाल अग्रगण्यों के आचरण का है, उनके आचार और व्यवहार का है। अतः इस दिशा में भी उनकी ही भूमिका का प्रभाव पड़ने वाला है।

वक्त का तकाजा है कि वे इस दिशा में सोचें।

—शुभू पटवा

❑❑

*भाद्रपद शुक्ला द्वादशी, संवत् 2054 का दिन **युवाचार्य मनोनयन दिवस** है। उस दिन 14 सितंबर (सन् 1997) यानी 'हिंदी दिवस' था। यह दिन भारतीय मन व विचार की अस्मिता का दिन भी कहा जा सकता है। महाश्रमण श्री मुदितकुमार को तेरापंथ के वर्तमान अधिष्ठाता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उस दिन अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। वे युवाचार्यश्री महाश्रमण हो गए। तब आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तेरापंथ के मन और विचार-दर्शन की अस्मिता उनमें प्रक्षेपित की थी। संवत् 2063 की इस भाद्रपद शुक्ला द्वादशी (5 सितंबर, 2006) को **युवाचार्य मनोनयन दिवस** है। तेरापंथ की अस्मिता के इस जाज्वल्य नक्षत्र का हर्षाभिवादन! वंदन!!*

—शु.प.

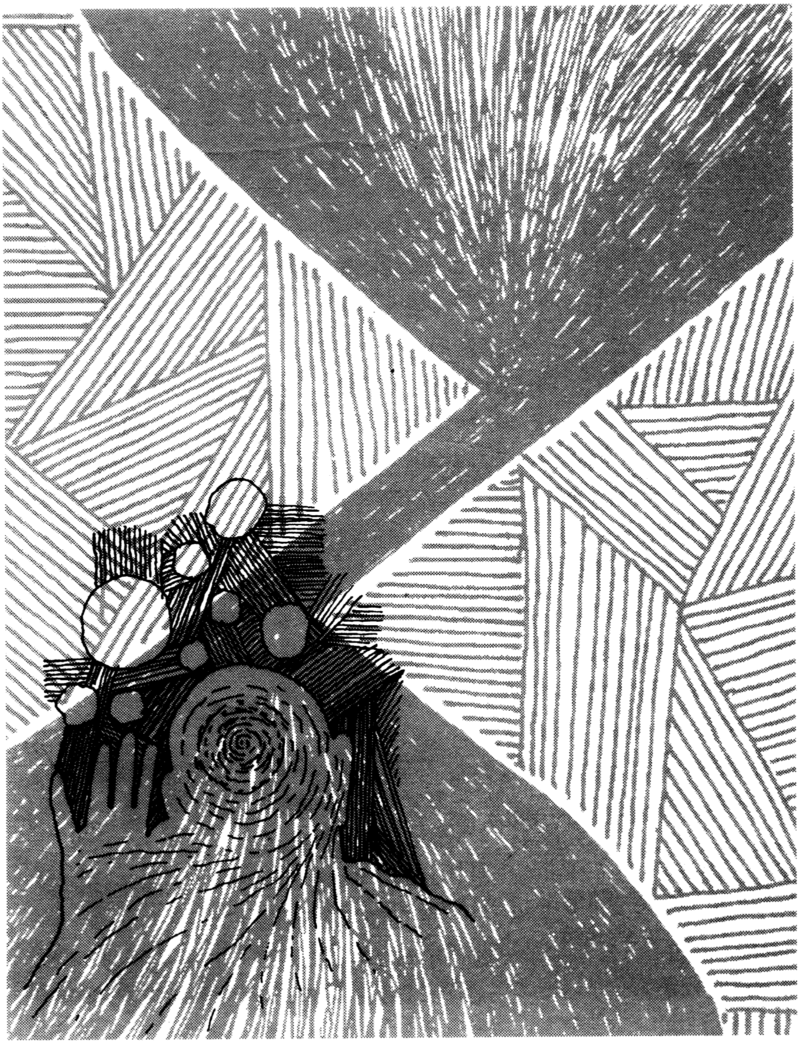

विमर्श

ब्रह्म, आचार और अनुष्ठान—ये धर्म के निचले स्तर की क्रियाएं हैं। ऊंचा धर्म आचारों और अनुष्ठानों में नहीं बसता। वह मन की एकाग्रता और समाधि में जगता है। वह उस आंतरिक एकांत में चमकता है, जहां हम ईश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करते हैं। धर्म की भाषा औपचारिक प्रार्थना और स्तोत्र नहीं, प्रत्युत, आत्मिक अनुभूति होती है और धर्म का दर्शन भी सनातन दर्शन है जो तर्कों से अधिक अनुभूतियों पर आधारित होता है। बुद्धि का प्रत्येक क्षेत्र शंका का क्षेत्र है। बुद्धि का प्रत्येक तर्क स्वयं को काटने वाले किसी अन्य तर्क को जन्म देता है। किंतु, प्रत्येक मनुष्य को कहीं न कहीं पहुंच कर अपने-आप का विश्वास करना ही पड़ता है। हम जब भी ऊंची मानसिक स्थिति में होते हैं, हमें लगता है, मानो हम अपने-आप से किसी बड़ी सत्ता के संपर्क में आ गए हों और मानो यह सत्ता ही सबसे बड़ी वास्तविकता हो।

—रामधारीसिंह दिनकर

वृत्ति, प्रवृत्ति और सम्यक् चिंतन

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हम समग्रता की दृष्टि से चिंतन करें, एकांगी दृष्टिकोण से नहीं। जहां समग्रता की बात नहीं होती, वहां वृत्ति भी ठीक काम नहीं करती, प्रवृत्ति भी ठीक काम नहीं करती और उसका सम्यक् परिणाम भी नहीं होता। समग्रता की दृष्टि में तीनों बातें जुड़ी हुई हैं। समग्रता के आधार पर चिंतन करने वाला केवल परिणाम के आधार पर निष्कर्ष नहीं निकालेगा। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति केवल प्रवृत्ति के आधार पर परिणाम नहीं निकालेगा और समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति कोरी वृत्ति के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकालेगा। वह तीनों का अध्ययन करेगा।

हमारा जीवन अस्तित्व और आकांक्षाओं के बीच में चल रहा है। हम हैं, हमारा अस्तित्व है। हम होना चाहते हैं, यह होने की आकांक्षा है। अस्तित्व रहता है, होता है, पर बात उसमें नहीं होती। आदमी में बदलने की, कुछ होने की एक आकांक्षा होती है, चाह होती है। कोई भी आदमी जिस स्थिति में है, उसमें शायद संतुष्ट नहीं होता। कुछ और होना चाहता है। जहां है, वहां से कुछ और आगे जाना चाहता है। जिस बिंदु पर है, उस बिंदु पर टिका रहे, ऐसा शायद ही कोई आदमी हो। होने की चाह में से अनेक संभावनाएं जन्म लेती हैं। होना है, तो आयाम खोजने होंगे। उपाय खोजने होंगे, अपाय का निरसन करना होगा और एक पूरे वातावरण की सृष्टि करनी होगी।

आदमी सत्य को उपलब्ध होना चाहता है, सफल होना चाहता है, स्वस्थ होना चाहता है, विकास चाहता है—ये सारे परिणाम चाहता है।

मनुष्य की एक मनोवृत्ति है और वह बहुत भयानक मनोवृत्ति है। इसी मनोवृत्ति ने समस्याओं को जन्म दिया है और आज भी देती जा रही है। वह मनोवृत्ति है—परिणामगामी। हम परिणाम को चाहते हैं, परिणाम को मिटाना चाहते हैं और परिणाम को बदलना चाहते हैं। तीनों बातें परिणाम के आधार पर ही करना चाहते हैं। मिटाना है तो परिणाम को, और पाना है तो परिणाम को। परिणाम पर ही हमारा सारा ध्यान केंद्रित रहता है। प्रवृत्ति और वृत्ति पर हमारा ध्यान नहीं जाता।

एक अधिकारी नया-नया आया। आलू की फसल बहुत अच्छी थी। जाकर देखा तो पत्ते ही पत्ते दिखाई दे रहे थे। केवल पत्ते, और कुछ भी नहीं। उसने कहा—मुझे तुम लोगों ने गलत सूचना दी। कहा तो था कि आलू की फसल बहुत अच्छी हुई है, पर यहां तो पत्ते ही पत्ते हैं—आलू कहां हैं? बिलकुल झूठी बात थी तुम्हारी। वे लोग मन-ही-मन हंसे और बोले—महाशय! आलू जमीन में होते हैं। ऊपर पत्ते ही पत्ते

होते हैं, आलू नहीं होते। तब उस अधिकारी ने जमीन को थोड़ा कुरेदकर देखा तो आलू ही आलू थे। पत्तों के आधार पर आलुओं का निर्णय नहीं किया जा सकता। जो भीतर होता है, उन्हें बाहर नहीं पाया जा सकता है।

हमारी मनोवृत्ति ऐसी है कि हम ऊपर की बात पर ही अधिक विश्वास करते हैं, भीतर जाने का प्रयत्न ही नहीं करते। भीतर गए बिना कुछ मिलता नहीं। परिणाम सदा भीतर ही रहता है। परिणाम के साथ दो बातें रहती हैं—एक प्रवृत्ति, और दूसरी प्रवृत्ति के नीचे रहती है वृत्ति। मूल है वृत्ति। वृत्ति को पकड़ लें तो प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकती है और प्रवृत्ति को पकड़ें तो परिणाम की बात समझ में आ सकती है। केवल परिणाम के आधार पर होने वाले निर्णय गलत होते हैं, मिथ्या होते हैं और भ्रम में फंसाने वाले होते हैं।

हम क्रोध को मिटाना चाहते हैं, बुराई को मिटाना चाहते हैं, अज्ञान को मिटाना चाहते हैं और अनुशासनहीनता को मिटाना चाहते हैं, आक्रामक मनोवृत्ति को मिटाना चाहते हैं, संग्रह की मनोवृत्ति और इसी प्रकार की सारी बुराइयों को मिटाना चाहते हैं। हम ही नहीं, सारा समाज इन्हें मिटाना चाहता है। सरकारें और अन्य सब लोग मिटाना चाहते हैं। पर, बुराइयों में क्या जादू है, कितनी ताकत है, कितनी शक्ति है कि वे और अधिक पनपती जाती हैं। उनकी पौध बढ़ रही है। न जाने उन्हें कहां से सिंचन मिल रहा है! उलटा चक्का क्यों चल रहा है? बुराइयों को किसका संरक्षण प्राप्त है? आदमी किसके संरक्षण से वंचित है? यह हमारे सामने बहुत बड़ा प्रश्न है। प्रतीत होता है कि हमने इस प्रश्न पर कभी गंभीरता से चिंतन नहीं किया। यदि हमारा चिंतन गंभीर होता तो मूल की बात तक हम ठीक से पहुंच पाते और समाधान खोज पाते।

हम तो केवल बुराइयों को मिटाना चाहते हैं। हिंसा एक परिणाम है। क्रोध एक परिणाम है। बुराई एक परिणाम है। कोई आदमी मिलावट करता है, जमाखोरी करता है, संग्रह करता है—ये सब परिणाम हैं। अनुशासनहीनता एक परिणाम है। हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, मूल बात को मिटाना नहीं चाहते। मूल जब तक विद्यमान है, तब तक ये परिणाम तो घटित होते ही रहेंगे। मूल मजबूत है तो परिणाम फलते-फूलते रहेंगे। क्रोध अपने-आप नहीं आता। क्रोध के नीचे एक प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के नीचे एक वृत्ति होती है। जब तक वृत्ति को मिटाने की बात हम नहीं सोचते, तब तक प्रवृत्ति को नहीं मिटाया जा सकता और परिणाम को भी नहीं मिटाया जा सकता।

मनोवैज्ञानिकों ने वृत्तियों का विश्लेषण किया है। मनुष्यों में कुछ मौलिक वृत्तियों के आधार पर उनकी सारी प्रवृत्तियां चलती हैं, परिणाम आते हैं। वृत्तियों और प्रवृत्तियों का धर्मशास्त्रों ने बहुत गहरा विश्लेषण किया है। उन्होंने कभी नहीं कहा कि प्रवृत्तियों को मिटाओ। मैं प्रश्न उपस्थित करता हूं कि क्या अहिंसा को साधा जा सकता है? क्या ब्रह्मचर्य को साधा जा सकता है? क्या अपरिग्रह को साधा जा सकता है? लोग कहते हैं—ये सब साधे जा सकते हैं। हमने संकल्प कर लिया है कि हिंसा नहीं करेंगे, झूठ नहीं बोलेंगे, चोरी नहीं करेंगे, अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करेंगे, परिग्रह नहीं रखेंगे। प्रश्न है कि संकल्प ले लिया, पर यह सिद्ध हो गया क्या? यदि संकल्प लेने मात्र से सारी बातें सिद्ध हो जातीं तो यह एक बड़ा चमत्कार माना जाता कि जो भी कहा—सिद्ध हो गया। मात्र एक संकल्प के स्वीकार से, एक शब्द के उच्चारण से वह बात कैसे बन जाएगी? इस पर गंभीर चिंतन हुआ। तीर्थंकरों ने, आचार्यों ने एक मार्ग बताया कि गुप्ति की साधना करो, व्रत सिद्ध होगा। मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति—इन गुप्तियों की साधना से व्रत सिद्ध होगा। मन स्थिर है, अहिंसा सिद्ध हो जाएगी। मन निर्मल है, स्थिर है, तो ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाएगा। मन स्थिर है, निर्मल है, तो अपरिग्रह सध जाएगा। पर, जब तक मन चंचल है, पदार्थ के प्रति दौड़ता है, व्यक्ति के प्रति दौड़ता है, घटनाओं के प्रति दौड़ता है और उतनी ही चंचलता, उतना ही विक्षेप और उतना ही आसक्तिभाव है तो क्या अहिंसा सध जाएगी? ब्रह्मचर्य सध जाएगा? जो साधक अपनी साधना के परिपाक के बिना आगे बढ़ जाता है, उसे पीछे लौटने की बात भी करनी पड़ती है।

एक चूहा था। उसे बिल्ली का बहुत भय सताता था। एक बार एक ऋषि ने उसे वरदान दिया और वह बिल्ली बन गया। अब उसे कुत्ते का भय सताने लगा। ऋषि ने उसे कुत्ता बना दिया। कुछ दिन बीते। ऋषि ने पूछा—अभय हो गए? वह बोला—अभय कैसे? अब शेर से डर लगता है। ऋषि ने उसे शेर बना दिया। भय तब भी नहीं मिटा। ऋषि से कहा—अब मुझे किसी भी पशु से भय नहीं लगता, केवल शिकारी से डर लगता है। ऋषि ने पूछा—अब क्या चाहते हो? मनुष्य बना दूं? उसने कहा—नहीं। मैंने स्पष्ट

अनुभव कर लिया है कि सभी अवस्थाओं में डर तो बना ही रहता है। डर मिटेगा नहीं, चाहे बिल्ली, कुत्ता, शेर या शिकारी बन जाओ। मुझे तो पुनः चूहा ही बना दो। ऋषि ने कहा—'तथास्तु! पुनर्मूषको भव।' वह चूहा बन गया।

डर मिटेगा नहीं, चाहे कुछ भी बन जाओ। वृत्ति बदले बिना आदमी कुछ भी बन जाए, कोई परिवर्तन नहीं होता। यह मूल बात है। भय की वृत्ति बदलने पर ही भय मिट सकता है।

वृत्ति की प्रधानता हमें स्वीकार करनी होगी। वृत्ति बदलती है गुप्ति की साधना से। गुप्तियां तीन हैं—मन की गुप्ति, वचन की गुप्ति और काया की गुप्ति। हिंसा हमारी वृत्ति का एक परिणाम है। जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता का संवेदन तीव्र है, तब तक वह अहिंसक कैसे बन सकता है? जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता का संवेदन तीव्र है, तब तक वह ब्रह्मचारी कैसे बन सकता है? जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता की गहरी अनुभूति है, तब तक वह अपरिग्रही कैसे बन सकता है? हमारी जैसी वृत्ति होगी, वैसी ही हमारी प्रवृत्ति होगी। हमारा सारा आचरण और सारा व्यवहार हमारी मौलिक वृत्ति के आधार पर होता है। वृत्ति ही प्रवृत्ति को जन्म देती है और प्रवृत्ति परिणाम लाती है। यह एक पूरी श्रृंखला है। इस श्रृंखला में से एक को भी नहीं छोड़ा जा सकता।

आज की समस्या इसीलिए उलझी हुई है कि हम केवल परिणाम को मिटाना चाहते हैं। औरों की बात छोड़ दें, धार्मिक लोग भी परिणाम को मिटाना चाहते हैं। आदमी आता है, सीधा कहता है—महाराज! गुस्सा बहुत आता है। इसे छोड़ना चाहता हूं। झगड़े की आदत छोड़ना चाहता हूं। ये सारे परिणाम हैं, इनके पीछे भी तो कुछ है। उसकी भी खोज होनी चाहिए। क्रोध आता है, उसके पीछे कोई शारीरिक कारण हो सकता है। कोई मानसिक कारण हो सकता है, पौद्गलिक कारण हो सकता है। क्रोध के पीछे छिपा हुआ एक कारण है—संस्कार। क्रोध का संस्कार एक वृत्ति है। राग और द्वेष की वृत्ति काम कर रही है। प्रवृत्ति को वही वृत्ति जन्म देती है। आदमी किसी के प्रति आसक्त होता है, किसी से घृणा करता है। किसी से डरता है, किसी से प्रेम करता है। वह इन सारी प्रवृत्तियों को जन्म देता है और ये प्रवृत्तियां फिर अपना परिणाम लाती हैं। जब घर में विवाद होता है, कलह होता है और झगड़ा होता है—तब यही कहा जाएगा कि लड़ो मत, विवाद मत करो, झगड़ा मत करो। पर, लड़ने वाला क्यों नहीं लड़ेगा? लड़ने की सामग्री तो पूरी भीतर में पड़ी है। लड़ने के कारण तो भीतर में सक्रिय हैं। लड़ने की पूरी शक्ति भीतर में काम कर रही है और हम आदमी से कहते हैं कि लड़ो मत। हमने चूल्हा सुलगा दिया, ईंधन जला दिया और कहते हैं कि लपट! ऊपर मत उठो। गर्मी मत दो। अरे! अपने हाथ से चूल्हा जलाया, ईंधन डाला, आग सुलग उठी, भभक उठी आग, और कहते हो कि गर्मी मत दो—यह कैसे संभव होगा? आंच एक परिणाम है, ताप एक परिणाम है। उस परिणाम को कैसे मिटाया जा सकता है? आग हो और ताप न हो यह कैसे संभव है? यदि ताप को मिटाना है तो आग को बुझाना होगा। आग को बुझाना नहीं चाहते और ताप से बचना चाहते हैं—यह विपर्यास है। आदमी ने कुछ ऐसे उपाय भी किए हैं, पर परिणाम को मिटाने के सारे उपाय तात्कालिक होते है। वे स्थाई नहीं होते और बहुत फलप्रद भी नहीं होते। अपनी सारी समस्याओं और उलझनों पर हम ध्यान दें तो निष्कर्ष यही आएगा कि हम केवल परिणाम की परिक्रमा कर रहे हैं। यह परिक्रमा इतनी बड़ी परिक्रमा हो जाती है कि जिसका कभी अंत नहीं होता और समस्या का कोई समाधान भी नहीं होता। हम मूल तक नहीं पहुंच पा रहे हैं। ऐसी भ्रांति होती है कि मूल सामने है, पर मूल पर ध्यान नहीं जाता।

एक आदमी अपनी पत्नी को लेकर चुनाव अधिकारी के पास गया और शिकायत की कि मेरी पत्नी का नाम मतदाता-सूची में नहीं है। अधिकारी ने देखा और कहा—इसका नाम तो मृतक की सूची में है। पत्नी बोली—मैं जीवित खड़ी हूं। मृतक की सूची में कैसे? पति बोला—तुम बेवकूफ हो, क्या इतना बड़ा अधिकारी झूठ बोलेगा! बड़ी विचित्र परिस्थिति होती है। मूल जीवित खड़ा है, हमारे सामने उपस्थित है, पर हम अधिकारी की बात पर विश्वास करेंगे। जीवित आदमी की बात पर विश्वास नहीं करेंगे।

हमारी सारी वृत्तियां जीवित हैं। लड़ाने वाली वृत्ति जीवित है। गुस्सा लाने वाली, अहंकार पैदा करने वाली व संग्रह करने वाली वृत्तियां जीवित हैं। सारी बुराइयों को जन्म देने वाली हमारी वृत्तियां जीवित हैं, हम उन पर विश्वास नहीं करेंगे, अधिकारी पर विश्वास करेंगे, कहेंगे कि क्या इतना बड़ा अधिकारी झूठ बोलता है? हम उस धर्म-गुरु की बात में विश्वास करेंगे, जो यह कहता है—तुम मेरी शरण में आ जाओ, सब-कुछ ठीक हो जाएगा। उस पर भरोसा

करेंगे, अपनी जीवित वृत्तियों पर भरोसा नहीं करेंगे। समस्या का समाधान करना है तो एक ही उपाय सामने है कि हम परिणाम पर ज्यादा भरोसा न करें। न हम परिणाम को ज्यादा चाहें और न परिणाम को मिटाना चाहें। वृत्तियों पर ध्यान केंद्रित करें और उनके संदर्भ में प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें कि कौन-सी वृत्ति किस प्रवृत्ति को जन्म दे रही है। परिणाम की चिंता अलग से करने की जरूरत नहीं। वह तो अपने-आप आने वाला है। जो अपने-आप हो, उसके लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वतः प्राप्त होगा। उसे तो आना ही होगा। कितना मतिभ्रम है कि जो स्वतः आने वाला है, उसके लिए सारा-का-सारा प्रयत्न चल रहा है। और, जो पैदा करने वाला है, जहां से आदमी बदल सकता है, जहां से आदमी अच्छा बन सकता है, जहां से आदमी बुरा बन सकता है, जहां मन की शांति उपलब्ध हो सकती है, जहां सफलता और असफलता, विकास और ह्रास, शांति और अशांति, सत्य की उपलब्धि और अनुपलब्धि—ये सारी बातें हो सकती हैं, उस बिंदु की खोज हम करना नहीं चाहते।

ध्यान की प्रक्रिया उस बिंदु की खोज की प्रक्रिया है, परिणाम की प्रक्रिया नहीं है। परिणाम चाहने वाले लोग, तात्कालिकता में विश्वास करने वाले व्यक्ति, केवल वर्तमान को उपलब्ध होने वाले व्यक्ति, वर्तमान की घटना पर व्यग्रता से चिंतन करने वाले व्यक्ति, कभी भी इस प्रक्रिया को उपलब्ध नहीं हो सकते और न ही वे ध्यान के गहरे सत्य तक जा सकते हैं। समग्रता से किसी वस्तु का विश्लेषण किए बिना जो होना चाहिए वह नहीं होता, न ठीक परिणाम आता है, न ठीक प्रवृत्ति आती है।

चिंतन के संदर्भ में पांच सूत्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं पहला सूत्र है—समग्रता की दृष्टि। हमारी दृष्टि समग्रता की होनी चाहिए। समग्रता की दृष्टि होती है तो सत्य के प्रति हमारा झुकाव होता है। फलतः परिणाम आता है कि हमें सत्य उपलब्ध हो जाता है। यदि हमारे मूल में आग्रह की वृत्ति है, ऐकांतिक आग्रह की वृत्ति बैठी हुई है, तो हमारा सारा प्रयत्न मिथ्या होगा। हम जो भी सत्य पकड़ेंगे, वह अधूरा होगा। वह सापेक्ष नहीं होगा, वह निरपेक्ष होगा।

कोई भी क्षेत्र विवादमुक्त नहीं है। जितने विवाद चलते हैं—राजनीतिक प्रणालियों के क्षेत्र में हों, चाहे दार्शनिक क्षेत्र में, चाहे सामाजिक प्रणालियों के क्षेत्र में—वे सारे विवाद एकांगी आग्रह के कारण चलते हैं। प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक व्यक्ति यह प्रमाणित करना चाहता है कि उसकी प्रणाली, उसकी पद्धति सबसे अच्छी है। किंतु, जब एकांगी बात आ जाती है, अधूरी बात आ जाती है तो किसी की भी अच्छी नहीं हो सकती है। यह सही है कि भाषा में उतरने वाली कोई भी बात सर्वथा अच्छी नहीं होती, पूर्ण नहीं होती। कोई व्यक्ति कहे कि यह बात सबसे अच्छी है, उसके साथ यह और जोड़ देना चाहिए कि बात अधूरी है। अधूरी अच्छी भी हो सकती है, पर वह पूरी बात तो हो नहीं सकती। भाषा का वह काम नहीं कि वह पूरे सत्य को अभिव्यक्ति दे सके। सत्य अनंत हैं, पर भाषा बहुत सीमित है। सीमित शब्द असीम सत्य को अथवा सांत शब्द अनंत को अभिव्यक्ति कैसे दे सकेंगे? कभी संभव नहीं।

कुछ लोग आत्मा-परमात्मा की चर्चा करते हैं। वह व्यक्ति कभी भी आत्मा तक नहीं पहुंच सकता जो शब्द की परिभाषा से आत्मा को देखना चाहता है। परमात्मा तक वह व्यक्ति कभी नहीं पहुंच सकता जो पारिभाषिक शब्दावली में परमात्मा को व्याख्यायित करता है। शब्द जिसको छूता नहीं, जिसका स्पर्श नहीं कर सकता—वह शब्द उसका प्रतिनिधित्व कैसे करेगा?

भाषा में कोई क्षमता नहीं कि वह सत्य का प्रतिनिधित्व कर सके। यह तो एक अंधे आदमी की लकड़ी जैसी है। न देख पाने के कारण अंधा आदमी लकड़ी को टिका-टिका कर चलता है। क्या अंधे की लकड़ी को हम अधिक मूल्य दें? उसका जितना मूल्य है, उतना ही उसे दें। यह ठीक है कि भाषा के बिना हमारे जीवन का संपर्क नहीं होता, सामाजिक संपर्क नहीं होता। हमारे संबंध नहीं होते। हमारा काम नहीं चलता। इसलिए भाषा को भी एक स्थान देना पड़ता है। पर, भाषा की क्षमता आखिर कितनी है? भाषा की क्षमता अधूरी है। भाषा की ऐसी स्थिति होती है कि बहुत बार सुलझते-सुलझते आदमी उलझ जाता है। उलझाने में हमारे शब्द बहुत बड़े सहयोगी बनते हैं। पता नहीं चलता और आदमी उलझ जाता है। उस भाषा के सहारे हम कैसे परम सत्य की बात सोच सकते हैं? मुझे तो कभी-कभी बड़ा अटपटा लगता है कि सत्य, परम सत्य जैसे शब्द गढ़े गए। क्या यही हमारी मानसिक भ्रांति नहीं है? आत्मा के बारे में जो कहा जा रहा है, कौन कह रहा है? कौन बतला रहा है? आत्मा तो बोलती नहीं। आत्मा तो अपने-आप को प्रकट करती नहीं। आत्मा तो गहरे में, गहरे में और गहरे में है। सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है। फिर कौन अभिव्यक्ति दे रहा है? एक बड़ा प्रश्न है।

भाषा पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। मन पर

भी बहुत भरोसा नहीं हो सकता। कुछ लोग आते हैं और कहते हैं—आत्मा को जानना चाहता हूं। कुछ आते हैं और कहते हैं कि आत्मा का दर्शन करना चाहता हूं। उनसे पूछा जाता है कि आत्मा को जानना चाहते हो, या आत्मा के बारे में वाद-विवाद करना चाहते हो? कोई नहीं कहता कि वाद-विवाद करना चाहते हैं। सब यही कहते हैं, जानना चाहते हैं। जानना चाहते हैं तो ध्यान करें, मन को शांत करें, मौन करें, अंतर्मौन करें और शरीर को स्थिर करना सीखें, सिद्ध करना सीखें। यह शरीर तो दरवाजा है। हमारे तत्त्वज्ञानी उस दरवाजे के पास जाना नहीं चाहते, वे तो चाहते हैं कि बिलकुल सीधे भीतर पहुंच जाएं।

जो लोग मन, वचन और काया—इन तीनों की साधना में लग जाते हैं, वे आत्मा तक और परमात्मा तक भी पहुंच जाते हैं। इनकी साधना किए बिना जो लोग बातों में उलझ जाते हैं, अनंत काल बीत जाए, उन्हें न आत्मा मिलती है, न परमात्मा मिलता है। आदमी की वृत्ति ऐसी होती है कि वह जो सामने होता है, उस पर ज्यादा ध्यान दे देता है, समग्रता की दृष्टि से विचार नहीं करता। समग्र दृष्टि के बिना सम्यक् परिणाम नहीं आते।

हम समग्रता की दृष्टि से चिंतन करें, एकांगी दृष्टिकोण से नहीं। जहां समग्रता की बात नहीं होती, वहां वृत्ति भी ठीक काम नहीं करती, प्रवृत्ति भी ठीक काम नहीं करती और उसका सम्यक् परिणाम भी नहीं होता। समग्रता की दृष्टि में तीनों बातें जुड़ी हुई हैं। समग्रता के आधार पर चिंतन करने वाला केवल परिणाम के आधार पर निष्कर्ष नहीं निकालेगा। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति केवल प्रवृत्ति के आधार पर परिणाम नहीं निकालेगा और समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति कोरी वृत्ति के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकालेगा। वह तीनों का अध्ययन करेगा।

मनोविज्ञान में आज व्यावहारिक मनोविज्ञान का अध्ययन हो रहा है। व्यवहार के आधार पर मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन हो रहा है, वृत्तियों का अध्ययन हो रहा है। लगता है कि मनुष्य ने समग्रता की दिशा को पकड़ा है। एक बच्चा माता-पिता का अनुशासन नहीं मानता, बड़ा उद्दंड है, हर किसी से लड़ लेता है, बच्चों को मारता है, पीटता है, गालियां बकता है—उसमें ये सारी प्रवृत्तियां हैं। प्रवृत्ति को माता-पिता मिटाना चाहते हैं। बच्चा लड़ेगा, मां को पता चलेगा—एक चांटा जड़ देगी। क्योंकि वह उस प्रवृत्ति को मिटाना चाहती है। क्या चांटा जड़ा और प्रवृत्ति मिट गई? अगर ऐसे मिट जाती तो सारे बच्चे सुधर जाते। पर, हम देखते हैं कि जिन बच्चों को पीटा जाता है, वे सुधरने की अपेक्षा ज्यादा बिगड़े हैं, खराब हुए हैं। क्यों बिगड़ते हैं, क्योंकि हमने एक बात को पकड़ा है कि प्रवृत्ति मिटे। माता नहीं चाहती कि बच्चा हर किसी से लड़े। माता नहीं चाहती कि बच्चा अनुशासनहीन हो। वह उस प्रवृत्ति को बदलना चाहती है। पर, क्या इस तरह प्रवृत्ति बदल जाएगी? जब तक उसकी वृत्ति नहीं बदलेगी, प्रवृत्ति भी नहीं बदलेगी। हमारा सारा प्रयत्न होना चाहिए वृत्ति को बदलने का।

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में इसी मूल बात को पकड़ा है कि बच्चे की प्रवृत्ति को बदलना है तो हमें वृत्ति पर ध्यान देना होगा। जब तक 'पिच्यूटरी' और 'थायराइड ग्लैंड' को जाग्रत नहीं किया जाता, तब तक हजार बार कहने पर भी, हजार प्रयत्न करने पर भी बच्चे को नहीं बदला जा सकता। सीधा उपाय है कि बच्चे की आदतों को बदलना है तो दर्शन-केंद्र पर ध्यान का अभ्यास कराएं, प्रवृत्तियां अपने-आप बदल जाएंगी। वृत्ति को बदलना है तो प्रवृत्ति को बदलो। प्रवृत्ति बदलेगी तो परिणाम बदलेगा। लोग बड़े आग्रही होते हैं, पूरी बात को कभी नहीं पकड़ते, अधूरी बात पर भरोसा करते हैं। अधूरी बात पर भरोसा करते हैं, अधूरी बात पर सारा निर्णय लेते हैं।

कोई आदमी स्वयं बदलना चाहे, कोई अपने बच्चे को बदलना चाहे, कोई अध्यापक अपने विद्यार्थी को बदलना चाहे, राष्ट्र के कर्णधार राष्ट्र को बदलना चाहें—तो वे पहला प्रयत्न परिणाम को बदलने का करेंगे। बड़ा आश्चर्य होता है कि वृत्तियां तो विद्यमान रहेंगी और प्रवृत्तियां बदल जाएंगी, परिणाम बदल जाएगा? अगर ऐसा होता तो आज दुनिया स्वर्ग बन जाती। पर ऐसा कभी नहीं होता। हम इस सचाई को गहराई से अनुभव करें कि वृत्ति को बदले बिना प्रवृत्ति को बदलने की कोई संभावना नहीं है और प्रवृत्ति नहीं बदलेगी तो परिणाम के बदलने की भी कोई संभावना हमारे सामने नहीं है। हम पूरी बात को पकड़ें। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करें। उसके तीन पहलू हैं—परिणाम, प्रवृत्ति और वृत्ति। ऊपर से चलते हैं तो यह क्रम बनता है, नीचे से चलते हैं तो कार्य-कारण की शृंखला में वृत्ति मूल कारण है, प्रवृत्ति उसका कार्य है और परिणाम प्रवृत्ति का कार्य है—कार्य-कारण की शृंखला में ये तीनों जुड़ते हैं। तीनों सचाइयों का अनुभव करें। एक साथ अनुभव करें, ध्यान केंद्रित करें इन पर। हमने धैर्य के क्षेत्र में

भी एक सबसे बड़ी भूल की है और वह भूल यह है कि ध्यान को छोड़ दिया। और बातों को पकड़े रखा, ध्यान को छोड़ दिया। हमने वृत्ति को बदलने वाली प्रवृत्ति को छोड़ दिया। हम परिणाम चाहते हैं कि धार्मिक आदमी को बदलना चाहिए। लोग पूछते हैं—अरे, इतना धर्म किया जाता है, पर समाज नहीं बदला! अनंतकाल तक धर्म चलेगा फिर भी समाज नहीं बदलेगा। तो जिस समाज में, जिस धर्म के क्षेत्र में, वृत्ति तक पहुंचने की प्रवृत्ति नहीं है—वहां यह परिणाम नहीं आएगा।

ध्यान की खोज इसलिए हुई थी कि प्रवृत्ति को जन्म देने वाली वृत्ति तक हम पहुंच सकें। शिक्षा के क्षेत्र में मस्तिष्क को बदलने का प्रयत्न किया जा रहा है, किंतु वृत्तियों को बदलने का और उनके परिष्कार का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। ध्यान के द्वारा दृष्टि का परिवर्तन और चारित्र-आचरण का परिवर्तन किया जा सकता है। दृष्टि की मूढ़ता पैदा करने वाली मूर्च्छा तथा आचरण व व्यवहार में मूढ़ता पैदा करने वाली मूर्च्छा—ये दोनों मूर्च्छाएं हमारे सामने हैं। जब तक ये दोनों परिष्कृत नहीं होंगी, तब तक दृष्टि और चरित्र का परिष्कार नहीं किया जा सकेगा। तब तक न मनुष्य का दृष्टिकोण बदलेगा और न चरित्र का कोई परिष्कार होगा। जिन लोगों ने प्रेक्षाध्यान का अभ्यास शुरू किया है, जो लोग चाहते हैं कि सचाई का अनुभव कर सकें, समझ सकें—उन लोगों के लिए जरूरी है कि वे गहराई से यह अनुभव करें कि यहां वे न क्रोध को मिटाने आए हैं, न अहंकार को मिटाने आए हैं, न अन्य दीखने वाले परिणामों को मिटाने आए हैं—वे आए हैं केवल वृत्ति के अनुसंधान के लिए, उस वृत्ति की खोज के लिए, जो इन सारे परिणामों को पैदा करती है, जिसके कारण ये सारे परिणाम आते हैं। ये परिणाम जब मिट जाते हैं, तब वह सही दृष्टि होती है, सम्यक् दृष्टि होती है। अभी तो दृष्टि सम्यक् नहीं है। सारी दृष्टि आवेश के आधार पर चल रही है।

ध्यान के द्वारा खोई हुई स्मृति जागे और समग्र दृष्टि से अनावेश की परिस्थिति में सही चिंतन करें, सही निर्णय लें और सही निर्णय के आधार पर अपनी समस्या के मूल को खोजें और वहीं से समाधान प्राप्त करें। ❖

मनुष्य की बड़ी लाचारी है और बड़ी शक्ति है कि वह छोटे-से निज से संतुष्ट नहीं रह सकता। उसे निजी भी कुछ चाहिए और वह निजी या अपना बनाने के लिए बराबर ललकता रहता है। बच्चा भी अकेलापन नहीं सहता और सिद्ध योगी भी एकांत केवल परात्पर से मिलने के लिए घर के रूप में स्वीकार करता है। इस पर की चाह या दूसरे की चिंता मनुष्य के स्वभाव में निहित है। वह जितना अपनापन पाना चाहता है उतना ही देना चाहता है, बांटना चाहता है अपने पास जो कुछ भी है, क्योंकि उसे लगता है अकेले उसका कुछ नहीं और अपने को बंटाने से सब-कुछ अपना लगने लगता है। यह वृत्ति ही मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के मूल में है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य भय को स्वीकार नहीं करता, करता भी है तो बस कुछ समय के लिए। भय का शासन मनुष्य पर अधिक दिन नहीं चलता। हां, प्यार की हुकूमत ऐसी है जो आदमी पर छा जाती है, क्योंकि हुक्म देने वाला खुद हुक्म लेने वाले के अधीन हो जाता है और उस स्थिति में ब्रजभाषा की काव्य-पंक्ति उद्धृत करूं :

दोऊ परैं पइयां, दोऊ लेत हैं बलैयां।
उन्हें भूलि गईं गइयां, इन्हें गागर उठाइवो।

दोनों एक-दूसरे के पांव पड़ते हैं, एक-दूसरे पर अपने को न्योछावर करते हैं। दोनों अपनी खुदी भूल जाते हैं, अपनी भूमिका भूल जाते हैं। कन्हैया भूल जाते हैं, गाय चराने आए थे और राधा भूल जाती है, हम तो गाय दुहने आई थीं।

—पं. विद्यानिवास मिश्र

भारतीय दर्शन की विकास-धारा

डॉ. एस. राधाकृष्णन

सत्य की भावना किसी बाह्य रूप से चिपटी नहीं रहती, वरन वह तो उसे बराबर बदलती रहती है। पुराने शब्दों का भी प्रयोग नए ढंग से किया जाता है। वर्तमान दर्शन वर्तमान युग के ही लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, अतीत के लिए नहीं। उसका रूप तथा विषय उतना ही मौलिक होगा जितना कि यह जीवन, जिसकी विवेचना में यह संलग्न है। चूंकि वर्तमान अतीत से संबद्ध है; अतः अतीत से संबंध-विच्छेदन कभी नहीं होगा।

5 सितंबर जन्म जयंती पर विशेष

भारतीय दार्शनिकों के लिए बुद्धि अथवा विवेक में श्रद्धा पैतृक संपत्ति की तरह है। प्राचीन ऋषि अनुकरण नहीं, सृजन पसंद करते थे। सत्य के लिए नित्य नवीन विजय प्राप्त करने को वे सदा उत्सुक रहते थे तथा सतत परिवर्तनशील, अतएव चिर-नवीन जीवन-रहस्यों के उद्‌घाटन में वे नित्य तत्पर रहते थे। उत्तराधिकार में प्राप्त की हुई विचार-राशि की विपुलता ने कभी उन्हें मानसिक दासता में नहीं बांधा। हम पुराने समाधानों की सीधी-सीधी नकल कभी नहीं कर सकते, क्योंकि इतिहास कभी पुनरावृत्ति नहीं करता। अपने युग में उन्होंने जो किया था, आज उसके दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें अपनी आंखें खोल रखने की जरूरत है, अपनी समस्याओं का पता लगाना है और उनके हल करने में अतीत से उत्तेजना अथवा प्रेरणा प्राप्त करनी है।

सत्य की भावना किसी बाह्य रूप से चिपटी नहीं रहती, वरन वह तो उसे बराबर बदलती रहती है। पुराने शब्दों का भी प्रयोग नए ढंग से किया जाता है। वर्तमान दर्शन वर्तमान युग के लिए ही उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, अतीत के लिए नहीं। उसका रूप तथा विषय उतना ही मौलिक होगा जितना कि यह जीवन, जिसकी विवेचना में यह संलग्न है। चूंकि वर्तमान अतीत से संबद्ध है; अतः अतीत से संबंध-विच्छेदन कभी नहीं होगा।

रूढ़िवादियों की एक युक्ति यह भी है कि सत्य पर युग का प्रभाव नहीं पड़ता। सत्य का स्थान कभी दूसरा नहीं ग्रहण कर सकता—वैसे ही, जैसे अस्तोन्मुख सूर्य अथवा माता के वात्सल्य, प्रेम की पूर्ति किसी दूसरी वस्तु से नहीं की जा सकती। सत्य शाश्वत हो सकता है, पर उसकी अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है, उसमें परिवर्तन संभव है। हम आत्मा तो अतीत से ले सकते हैं, क्योंकि आरंभिक सिद्धांत अब भी नितांत आवश्यक है, पर शरीर तथा प्राण वर्तमान से ही लेने होंगे।

हम भूल जाते हैं कि धर्म जिस रूप में आज हमारे सामने है, वह स्वयं अनेक परिवर्तनों से युक्त युगों का परिणाम है; और कोई वजह नहीं कि उसके रूपों में आवश्यकता पड़ने पर

भविष्य में परिवर्तन न हो। यह संभव है कि हम शब्दों को मानकर चलते रहें और फिर भी उसकी समस्त भावना को बिगाड़ दें। यदि दो हजार वर्ष पहले के हिंदू-नेता, जिनमें पांडित्य आज के नेताओं से कम होने पर भी उनसे ज्ञान अधिक था, आज भी हमारे बीच आ जाएं तो वे उन पंडितों को कभी अपना अनुयायी न स्वीकार करेंगे, जो उनके कथनों के अक्षरार्थ से रत्ती-भर भी नहीं डिगे हैं। आज बहुत कंकड़-पत्थर इकट्ठा हो गए हैं, जो आत्म-सरिता के स्वतंत्र जीवन में बाधा बनकर उसे सुखाए दे रहे हैं। यह कहना कि सत्यरहित, प्राणहीन रूढ़ियों को भी उनकी प्राचीनता तथा श्रद्धास्पदता के कारण हम स्पर्श नहीं कर सकते, उस रोगी की कष्ट की अवधि को बढ़ाना मात्र है, जो अतीत के कलुषित विष से पीड़ित है। अनुदार व्यक्तियों को परिवर्तनक्षम बनना होगा।

चूंकि अभी तक लोग इतने उदार नहीं हो पाए हैं, अतएव हमें दर्शन के क्षेत्र में तीक्ष्ण प्रतिभा एवं अतात्त्विक अस्त-व्यस्तता का विलक्षण मिश्रण दिखाई पड़ता है। विचारशील भारतवासियों को अपनी पूर्ण शक्ति का उपयोग इन प्रश्नों को हल करने में करना चाहिए कि अपने प्राचीन आदर्श को अस्थाई झाड़-झंखाड़ से किस प्रकार दूर रखें, किस प्रकार धर्म तथा विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करें, स्वभाव एवं व्यक्तित्व के अधिकारों को किस प्रकार समझाएं और प्राचीन आदर्श के आधार पर विभिन्न प्रभावों को किस प्रकार व्यवस्थित करें? किंतु, हमारे दुर्भाग्य से कुछ परिषदें इन समस्याओं के सुलझाने में नहीं, प्रत्युत् पुराण-वस्तु-पंडितों के समाज के उपयुक्त गवेषणा में संलग्न हैं। वह तो विशेषज्ञों की युद्ध-भूमि बन गया है। देश की धार्मिक शिक्षा का आयोजन उदार दृष्टि से नहीं हो रहा है। लोगों की समझ में नहीं आता कि हमारी आध्यात्मिक बपौती पर भाग्य के कतिपय लाडलों का एकाधिकार कैसे हो सकता है? विचार तो शक्तियां हैं और यदि हमें वर्तमान वृद्धावस्था-जनित मृत्यु से उनकी रक्षा करना इष्ट है तो उनका प्रसार सभी ओर करना होगा। यह नहीं हो सकता कि उपनिषद्, गीता एवं बुद्ध के प्रवचन, जो मानव-मस्तिष्क में इतने उच्चादर्शों का संचार कर देते थे—अब अपनी शक्ति को खो चुके हों। यदि समय निकल जाने से पहले हम अपने जातीय जीवन को फिर से संगठित कर सके, तो भारतीय दर्शन का भविष्य उज्ज्वल है; कौन कह सकता है कि इन शक्तिशाली वृक्षों में अब भी कैसे-कैसे फूल खिल सकते हैं, कैसे-कैसे फल पक सकते हैं!

यद्यपि वे लोग, जो पाश्चात्य संस्कृति से बिलकुल ही अछूते हैं, विचार एवं क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में रूढ़िवादी बने हुए हैं; किंतु पाश्चात्य विचारधारा में दीक्षित कुछ ऐसे भी लोग हैं जो प्राकृतिक बुद्धिवाद के नैराश्यपूर्ण दर्शन को मानकर हमें अतीत के भार से मुक्त होने का सत्परामर्श देते हैं। ये लोग परंपरा, असहिष्णु एवं अतीत के तथाकथित ज्ञान में शंकालु हैं। 'प्रगतिवादियों' की यह मनोवृत्ति आसानी से समझ में आ जाती है। भारत की आध्यात्मिक बपौती ने आक्रमणकारियों तथा लुटेरों से उसकी रक्षा नहीं की। ऐसा मालूम होता है कि उसने भारत को धोखा दिया और उसे पराधीनता के चंगुल में फंसा दिया। ये देशभक्त पाश्चात्य राष्ट्रों की भौतिक सफलता का अनुकरण करना चाहते हैं और प्राकृतिक संस्कृति के मूल को ही इस प्रकार खोद फेंकना चाहते हैं जिससे पाश्चात्य देशों से प्राप्त नवीनता को स्थान दिया जा सके। अभी कल तक भारतीय विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन पाठ्य-विषयों में नहीं रखा जाता था और अब भी विश्वविद्यालयों के दार्शनिक विषयों में इसका बहुत ही निम्न स्थान है। हमारी शिक्षा का संपूर्ण वातावरण ही भारतीय संस्कृति की हीनता के संकेतों से पूर्ण है। मैकाले ने जिस नीति का उद्घाटन किया था, उसका सांस्कृतिक महत्त्व कुछ भी क्यों न हो, वह एकांगी अवश्य है। जहां सदा सजग रहकर वह हमें पाश्चात्य संस्कृति की शक्ति एवं महत्ता को एक क्षण के लिए भी भूलने नहीं देती, वहां दूसरी ओर उसने हममें अपनी संस्कृति में अनुराग एवं आवश्यकतानुसार उसमें संस्कार कर लेने की प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न की। किसी-किसी पक्ष में तो मैकाले की अभिलाषा बिलकुल पूर्ण हो गई है और ऐसे शिक्षित भारतवासी हैं जो मैकाले के ही सुप्रसिद्ध शब्दों में—'अंग्रेजों से भी बढ़कर अंग्रेज' हैं। स्वभावतः इनमें से कुछ लोग भारतीय दार्शनिक इतिहास के महत्त्व-निर्धारण में प्रतिकूल विदेशी आलोचकों का ही अनुकरण करते हैं। वे भारत के दार्शनिक विकास को मूर्खता एवं अंधविश्वास से पूर्ण विचारों का नीरस विरोध-क्षेत्र समझते हैं। उनमें से एक सज्जन ने (अभी हाल ही में) घोषित किया था कि यदि भारत को उन्नति करना है तो उसे चाहिए कि वह इंग्लैंड को अपनी आध्यात्मिक जननी तथा ग्रीस को आध्यात्मिक मातामही बनावे। चूंकि धर्म के प्रति आपकी श्रद्धा नहीं है, अतः उन्होंने हिंदू धर्म को ईसाई धर्म में परिवर्तित कर देने का प्रस्ताव अवश्य नहीं किया है। आधुनिक युग के भ्रांति-निर्मोचित एवं पराजय के शिकार इन लोगों का कहना है कि भारतीय दर्शन में अनुराग रखना

यदि मिथ्या आत्म-गौरव की प्रवंचना नहीं है तो कम-से-कम राष्ट्रीय भावना-जनित दोष तो अवश्य है।

आश्चर्य का विषय है कि जब पश्चिम के लोगों ने भारत को हास्यजनक समझना बंद कर दिया है तो उसी की संतान ने उसे विचित्र समझना आरंभ कर दिया है। पश्चिम ने भरपूर कोशिश की कि वह भारत को इस बात का विश्वास दिला दे कि उसका दर्शन मूर्खतापूर्ण, उसकी कला बच्चों का खिलवाड़, उसका काव्य प्रतिभारहित, उसका धर्म हास्यास्पद तथा उसका आचरण-शास्त्र बर्बर है। अब जब पश्चिम यह अनुभव कर रहा है कि उसका विचार सर्वथा सत्य नहीं है, तो हममें से कुछ लोग जोर देकर यह कह रहे हैं कि यह विचार पूर्णरूप से ठीक है।

यह सच है कि जाग्रत विचारों के इस युग में लोगों को संस्कृति की किसी पूर्व-अवस्था में बलपूर्वक ले जाकर संदेह के खतरे तथा तर्क की क्षोभकारिणी शक्ति से बचाए नहीं रखा जा सकता, पर हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि आचरण, जीवन तथा नीति के किसी सर्वथा नवीन रूप के निर्माण करने की अपेक्षा पहले से पड़ी हुई नींव पर ही निर्माण करने में अधिक सौकर्य है। अपने जीवन-स्रोत से बिलकुल संबंध-विच्छेद कर लेना हमारे लिए संभव नहीं। रेखागणित के चित्रों के विपरीत, हमारी दार्शनिक योजनाओं का प्रादुर्भाव तो जीवन-संघर्ष में होता है। हमारी ऐतिहासिक परंपरा ही वह भोजन है जिसे त्यागकर हम शून्यता के, मृत्यु के मुख में जा पड़ेंगे।

अनुदार वर्ग के लोगों का निश्चित मत है कि हमारी प्राचीन संस्कृति महान है एवं आधुनिक संस्कृति ईश्वर-विरोधी है; उग्र परिवर्तनवादियों का उतना ही निश्चित सिद्धांत है कि प्राचीन परंपरा बिलकुल निरर्थक हैं तथा प्राकृतिक बुद्धिवाद ही केवल एक मार्ग है। इन मतों के समर्थन में बहुत-कुछ कहा जा सकता है; किंतु यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास को ठीक-ठीक समझने का उद्योग करें तो हमें मालूम होगा कि ये दोनों ही समानरूप से त्रुटिपूर्ण हैं। जो भारतीय संस्कृति को निरर्थक बताकर उसकी निंदा करते हैं, वे उसे जानते ही नहीं और जो उसे पूर्ण बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं, उन्हें किसी अन्य संस्कृति का ज्ञान नहीं। क्रांतिवादियों तथा रूढ़िवादियों को, जो नूतन आशा एवं प्राचीन ज्ञान के प्रतीक हैं, पारस्परिक संपर्क में आना होगा एवं एक-दूसरे को समझना होगा। ऐसे संसार में, जहां वायुयान तथा जलपोत, रेल तथा तार लोगों को एकता के सूत्र में बांध रहे हैं, हम अन्य संबंधों से बिलकुल रहित होकर नहीं रह सकते।

हमारे दार्शनिक विचार संसार की प्रगति को प्रभावित अवश्य ही करेंगे। पोखरों की ही भांति गतिहीन दार्शनिक धाराओं में भी अवांछित घास-फूस उग आती है, पर बहने वाली सरिताएं सदा ही अभिनव निर्झरों से उत्साहरूपी निर्मल जल प्राप्त किया करती हैं। अन्य लोगों की संस्कृति को आत्मसात कर लेने में कोई बुराई नहीं है; हां, जिस वस्तु को हम ग्रहण करें, उसे शुद्ध एवं परिष्कृत करके अपनी श्रेष्ठ वस्तु में बिलकुल मिला दें। बाहर से आकर राष्ट्रीय कड़ाही में गिरकर एकमेक होने के ठीक ढंग का निर्देश महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, अरविंद घोष तथा श्री भगवानदासजी के लेखों में पाया जाता है। उनमें अपने उज्ज्वल भविष्य की क्षीण प्रकाश-रेखा दिखाई देती है, शुष्क पांडित्य पर विजय एवं महान संस्कृति के दर्शन कर लेने के चिह्न दिखाई देते हैं।

यद्यपि अतीत भारत की लोक-कल्याण की भावना से वे प्रभावित हैं, पर पाश्चात्य विचारों को भी उन्होंने भली-भांति समझा एवं अपनाया है। वे प्राचीन मूलस्रोत को फिर निकालने के लिए उत्सुक हैं जिससे विशुद्ध, निर्मल प्रणालियों के द्वारा प्यासी भूमि का सिंचन किया जा सके; परंतु जिस भविष्य को देखने को हम विकल हैं, अभी तो उसकी सत्ता का आभास भी कहीं नहीं मिलता। बहुत संभव है कि उस राजनीतिक उत्तेजना के मंद पड़ने पर, जिसने भारत के अनेक श्रेष्ठ विद्वानों को अपने में ही तल्लीन कर रखा है, तथा नवीन विश्वविद्यालयों में भारतीय विचारधाराओं के अध्ययन पर अधिकाधिक जोर देने के फलस्वरूप (पुराने विश्वविद्यालय इस कार्य को बड़ी अन्यमनस्कता से कर रहे हैं) नवप्रभात का उदय हो। रूढ़िवादी शक्तियां, जिन्हें भविष्य से बढ़कर अतीत की ममता है, आने वाले युग में विशेष प्रभावशाली नहीं रह सकेंगी।

आज भारतीय दर्शन के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आ गया है। उसे यह निश्चय करना है कि यह दर्शन एक सीमित विस्तार का, वर्तमान जीवन-परिस्थितियों से एकांत असंबद्ध, छोटा-सा संप्रदाय मात्र बना दिया जाए अथवा उसे वास्तविक जीवन से संपन्न कर दिया जाए जिससे वह अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर सके, भारत के प्राचीन आदर्शों में सुवर्धित आधुनिक विज्ञान का समावेश करके उसे मानव-प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण साधन बना दे?

लक्षणों से तो यही प्रतीत होता है कि भविष्य में दूसरा मार्ग ही स्वीकृत होगा।

प्राचीन दार्शनिक संप्रदायों के प्रति हमारी भक्ति एवं दार्शनिक लक्ष्य का अनुरोध है कि हमारा दृष्टिकोण बहुत उदार होना चाहिए। वर्तमान काल में भारतीय दर्शन की सार्थकता इसी में है कि वह जीवन को उन्नत एवं महान बना सके। भारतीय दार्शनिक विकास की विगत धारा हमारे हृदय में आशा का संचार करती है। याज्ञवल्क्य तथा गार्गी, बुद्ध तथा महावीर, गौतम तथा कपिल, शंकर तथा रामानुज, माधव तथा बल्लभ एवं अनेक अन्य दार्शनिक भारत के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अकाट्य प्रमाण हैं, उसके सम्मान्य जीवित राष्ट्र होने के स्पष्ट प्रमाण हैं, इस बात का प्रमाण है कि अब भी उठकर वह इस महती संभावना को यथार्थ बना सकता है। ❖

जब हम अतिमानसिक चेतना से मनुष्यों के जगत को देखते हैं तो सर्वाधिक उजागर होने वाली विशेषता है : एक अनोखेपन का, एक कृत्रिमता का अनुभव—एक दुनिया जो अपनी कृत्रिमता के कारण बेतुकी है। यह जगत इसलिए मिथ्या है क्योंकि उसका पार्थिव स्वरूप वस्तुओं के गहरे यथार्थ को बिलकुल व्यक्त नहीं करता। यहां स्वरूप और अंतर अस्तित्व में एक विस्थापन है। फलतः, एक व्यक्ति जिसके अस्तित्व की गहराई में एक दैवी शक्ति विद्यमान है, बाहरी तल पर अपने को एक दास की परिस्थिति में पा सकता है। यह असंगत है! जबकि अतिमानसिक जगत में, इच्छा-शक्ति सीधे पदार्थ पर कार्य करने लगती है, और पदार्थ उस संकल्प का छंदानुवर्ती होता है। जब तुम अपने को वस्त्र से ढंकना चाहते हो तो वह पदार्थ, जिसमें तुम रह रहे हो, तुम्हें ढंकने के लिए तुरंत एक परिधान का रूप ले लेता है। तुम एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना चाहते हो तो तुम्हारी संकल्प-शक्ति किसी सवारी या कृत्रिम उपायों के बिना तुम्हें ले जाने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार मेरे अनुभव के जलयान को गतिशील होने के लिए किसी प्रकार के यांत्रिकरण की आवश्यकता नहीं थी : वह इच्छा-शक्ति थी जो अपनी इच्छा के अनुसार पदार्थ को परिवर्तित कर रही थी। जब उतरना आवश्यक होता था, तो अवतरण अपने-आप रूप ले लेता था। जब मैं समूहों को उतारने की इच्छा करती थी, उन्हें जिन्हें उतरना था, तो मेरे एक शब्द कहे बिना ही वे स्वतः इस बात को जान जाते थे और वे सही क्रम में आ रहे थे। सब-कुछ मौन में हो रहा था, समझाने के लिए बोलने की कोई आवश्यकता नहीं थी; किंतु जहाज के ऊपर, स्वयं मौन भी वह कृत्रिम प्रतीति नहीं प्रदान कर रहा था, जो यहां देता है। यहां जब हम मौन चाहते हैं तो हमें अपना मुख बंद करना पड़ता है : मौन शोर का विलोम है। वहां, मौन स्पंदन युक्त, जीवंत, क्रियाशील और धारणशील था।

यहां की विसंगति उन सभी कृत्रिम उपायों से युक्त है जिसका उपयोग करना चाहिए। एक बुद्धिहीन के पास अधिक शक्ति होती है, यदि उसके पास वे प्रचुर साधन हों जिनके द्वारा आवश्यक चालाकी पाई जा सके। जब कि अतिमानसिक जगत में, जितना ही कोई सचेतन है और वस्तुओं की सत्यता से संबंधित है उतना ही पदार्थ के ऊपर इच्छा-शक्ति का अधिकार है। अधिकार एक सही अधिकार है। यदि तुम एक परिधान की इच्छा करते हो तो उसे बना सकने की शक्ति चाहिए, एक वास्तविक शक्ति। यदि तुम्हारे पास यह शक्ति नहीं है, तब हां! तुम नंगे रह जाओगे। ऐसे कोई कृत्रिम उपाय नहीं हैं जो उस शक्तिहीनता की क्षतिपूर्ति कर सकें। यहां ऐसा नहीं है कि लाखों में एक बार भी, अधिकार किसी सत्य की अभिव्यक्ति होता है। सब-कुछ एक बहुत बड़ी विसंगति है।

जब मैं नीचे उतरी ('नीचे उतरना' कहने का एक ढंग है, क्योंकि वह न तो ऊंचा है और न नीचा, न तो भीतर है और न बाहर है, यह... कहीं पर है), मुझे अपने को व्यवस्थित करने में थोड़ा समय लगा। मुझे किसी से यह कहने का भी स्मरण है : 'अब हम अपनी सामान्य विसंगति में वापस लौट रहे हैं।' किंतु मुझे बहुत सारी बातें मालूम हुईं और मैं वहां से एक निर्णयात्मक शक्ति के साथ लौटी। अब मैं जानती हूं कि यहां की बातों को मूल्यांकित करने की हमारी विधि, हमारी लघु नैतिकता अतिमानसिक जगत के मूल्यों से असंबंधित है।

—श्री मां

शिक्षा का अर्थ

डॉ. संपूर्णानंद

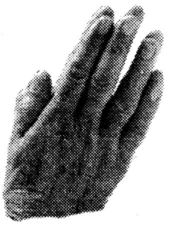

छात्रों की कोमल बुद्धि में यह बात आरंभ से ही बैठानी चाहिए। चारों ओर सौंदर्यमय वातावरण में प्रकृतिच्छटा और कलापूर्ण कृतियों के बीच में छात्र का जीवन बीतना चाहिए। उनके सामने सफल धन-उपार्जन करने वालों और विजेताओं को आदर्श-रूप से न रखकर विश्व को एकता का पाठ पढ़ाने वालों का उत्कर्ष बताना चाहिए। बचपन से ही तप और त्याग का अभ्यास न पड़ा तो आगे चलकर कठिनाई होगी।

शिक्षक दिवस
पर विशेष

समाज का सम्यक् संचालन तभी हो सकता है जब प्रत्येक नागरिक पर इसका दायित्व हो। जो समाज अपना सारा भार थोड़े-से व्यक्तियों के कंधों पर डाल देता है, उसको इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि एक दिन उसके सारे अधिकार इन थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में चले जाएंगे। फिर उसको अपनी खोई संपत्ति को वापस लेने के लिए विकट लड़ाई करनी होगी। परंतु, नागरिक समाज का काम तभी संभाल सकता है जब उसमें इसकी योग्यता हो और वह सामाजिक जीवन के लक्ष्य को समझता हो। यह बात शिक्षा पर निर्भर करती है।

शिक्षा का अर्थ व्यापक है। साधारणतः उसको बौद्धिक व्यायाम का समानार्थक मान लिया जाता है। छात्र को साहित्य, विज्ञान, इतिहास, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र जितने भी पाठ्य विषय हैं—पढ़ा दिए जाएं और वह कुशल चिकित्सक या अध्यापक या इंजीनियर जैसा कुछ बना दिया जाए। समाज को ऐसे लोगों की बराबर आवश्यकता रहती है। यदि हर मनुष्य को उसकी योग्यता के अनुसार काम और हर काम के लिए कुशल मनुष्य मिल जाए तो सभी सुखी और संपन्न रहें।

यह मत निराधार नहीं है। समाज को ऐसे लोगों की सदा आवश्यकता रहती है जो उसके अर्थ और काम का संपादन कर सकें। परंतु, यदि अर्थ और काम पर ही ध्यान दिया गया तो स्पर्धा ही उन्नति का साधन हो जाएगी। सबकी दृष्टि अपने ऊपर केंद्रीभूत होगी; हितों का संघर्ष जारी रहेगा और समाज शांति के लिए तरसता रह जाएगा।

हित-संघर्ष का कारण यही है कि सब अपने स्वार्थ, अपने अर्थ और काम को ढूंढ़ते हैं। किसी को किसी से द्वेष नहीं है, सबको अपने से राग है। एक अंधेरे कमरे में यदि दस मनुष्य बंद कर दिए जाएं और सब बाहर निकलने का द्वार ढूंढ़ रहे हों तो कई बार आपस में टकरा जाएंगे। किसी को किसी से बैर नहीं है, पर बस, केवल अपने लिए द्वार ढूंढ़ रहे हैं—इसी से

टकराते हैं। एक-दूसरे से लड़ने में शक्ति का अपव्यय होता है। वही मनुष्य यदि यह समझ ले कि सबका एक ही उद्देश्य है, तो उनकी सम्मिलित शक्ति का उपयोग हो सके। ऐसी दशा में यदि छुटकारे का द्वार न मिला तब भी लड़कर एक-दूसरे की विपत्ति बढ़ाई तो न जाएगी। ठीक यही बात समाज में है। हमको एक-दूसरे से बैर नहीं है, पर अपने भोग पर आंख लगी है। सबकी यही दशा है। यदि यह बात समझ में आ जाए कि सबका हित एक ही है और वह सहयोग से प्राप्त हो सकता है तो आपस का द्वंद्व बंद हो जाए। सबको सुख-समृद्धि प्राप्त हो; कम-से-कम हम एक-दूसरे के दुख को बढ़ाने के साधन न बनें।

छात्रों की कोमल बुद्धि में यह बात आरंभ से ही बैठानी चाहिए। चारों ओर सौंदर्यमय वातावरण में प्रकृतिच्छटा और कलापूर्ण कृतियों के बीच में छात्र का जीवन बीतना चाहिए। उनके सामने सफल धन-उपार्जन करने वालों और विजेताओं को आदर्श-रूप से न रखकर विश्व को एकता का पाठ पढ़ाने वालों का उत्कर्ष बताना चाहिए। बचपन से ही तप और त्याग का अभ्यास न पड़ा तो आगे चलकर कठिनाई होगी।

मनुष्य-शरीर यों ही खो देने की वस्तु नहीं है। अपनी वासनाओं की तृप्ति तो पशु भी कर लेते हैं, परंतु मनुष्य को अपने बहुज्ञ होने का गर्व है। उसको इस गर्व के अनुरूप अपना जीवन भी बनाना चाहिए। वासना का दमन मनुष्य की शोभा है; अपने को यथाशक्य दूसरों की सेवा में लगाना उसका आदर्श है, आत्मसाक्षात्कार उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। शारीरिक बल या विद्या सांसिद्धिक बातें हैं, परंतु इनकी प्राप्ति की कुछ सहज सीमाएं भी हैं। दूसरे से विद्या या बल या वैभव में कम होना दुख की बात हो, परंतु लज्जा की बात नहीं है। परंतु, अपने धर्म के पालन का प्रयत्न न करना, अर्थ और काम को धर्म से श्रेष्ठ मानना—मनुष्य के लिए लांछन है। यह भाव शिक्षा के द्वारा दृढ़ किया जाना चाहिए।

ऐसी शिक्षा पाया हुआ मनुष्य समाज का योग्य नागरिक होगा। सब धर्मसाक्षात्कर्ता नहीं हो सकते, परंतु धर्म-मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति सबमें होनी चाहिए। कोई बिरला ही ब्रह्मवेत्ता होगा, थोड़े-से ही योगाभ्यासी होंगे, थोड़े ही पूर्णतया निष्काम, पूर्णतया यज्ञभाव से लोकसंग्रहरत हो सकेंगे, परंतु प्रायः सब परार्थ को स्वार्थ से ऊंचा स्थान देंगे, प्रायः सब राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय व्यवहार में सहयोग और सद्भाव के समर्थक होंगे।

ऐसी शिक्षा देना कठिन नहीं है। अभेद, एकता जीवन का स्वरूप है। अविद्या के कारण उसको नानात्व की, पार्थक्य की प्रतीति होती है, परंतु जब कभी थोड़ी देर के लिए भी वह पार्थक्य को भुला पाता है, एकत्व की झलक पा लेता है, तो उत्फुल्ल हो उठता है। नानात्व के बीच में भी वह अपने को ढूंढ़ता रहता है। इसलिए जो शिक्षा उसको एकत्व की ओर ले जाएगी, वह उसको ग्राह्य होगी।

ऐसी शिक्षा देना सबका काम नहीं है। साधारण पाठ्य विषयों के अध्यापक तो बहुत मिल सकते हैं, परंतु विद्यार्थी को धर्म की शिक्षा देकर दूसरा जन्म देने की योग्यता रखने वाले आचार्य कम ही होते हैं। आचार्य छात्र के लिए तो पूज्य हैं ही, समाज का कर्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियों का समादर करे और उनको निष्कंटक काम करने का अवसर दे। ❖

यदि ज्ञान प्राप्त करना है तो अज्ञान को दूर करना होगा। अज्ञान के कई कारण होते हैं। एक कारण यह हो सकता है कि इंद्रियां दूरी या व्यवधान या अधिष्ठान-दोष के कारण ठीक-ठीक काम न कर सकती हों। बीच में किसी वस्तु का आ जाना व्यवधान और आंख, कान आदि का रुग्ण या विकल होना अधिष्ठान-दोष है। परंतु इन सब बाधाओं से बढ़कर वह बाधा है जिसका स्थान द्रष्टा के भीतर, अस्मत् के भीतर, चित्त में है। चित्त किसी वस्तु की ओर लगाया जाता है, पर वहां देर तक टिकता नहीं, दूसरी वस्तुओं की ओर खिंच जाता है। उसमें राग-द्वेष, पहिले की स्मृतियां, इस समय की इच्छाएं, सब भरी रहती हैं और इसी मलिन पीठिका में ज्ञानोपार्जन का प्रयत्न किया जाता है। भीरु को प्रत्येक झाड़ी में बाघ देख पड़ता है, माता को पत्तियों के हिलने में अपने खोए बच्चे के पांव की आहट सुन पड़ती है, भूखे को सर्वत्र रोटियां ही देख पड़ती हैं। चित्त की इस अवस्था को, जिसमें वह किसी विषय पर स्थिर नहीं होता वरन् एक विषय से दूसरे विषय पर फिंकता फिरता है, विक्षेप कहते हैं। एक तो चित्त निर्मल नहीं, दूसरे विक्षिप्त रहता है। इसीलिए उसमें यथार्थ ज्ञान का प्रतिष्ठित होना बहुत कठिन हो जाता है।

—डॉ. संपूर्णानंद

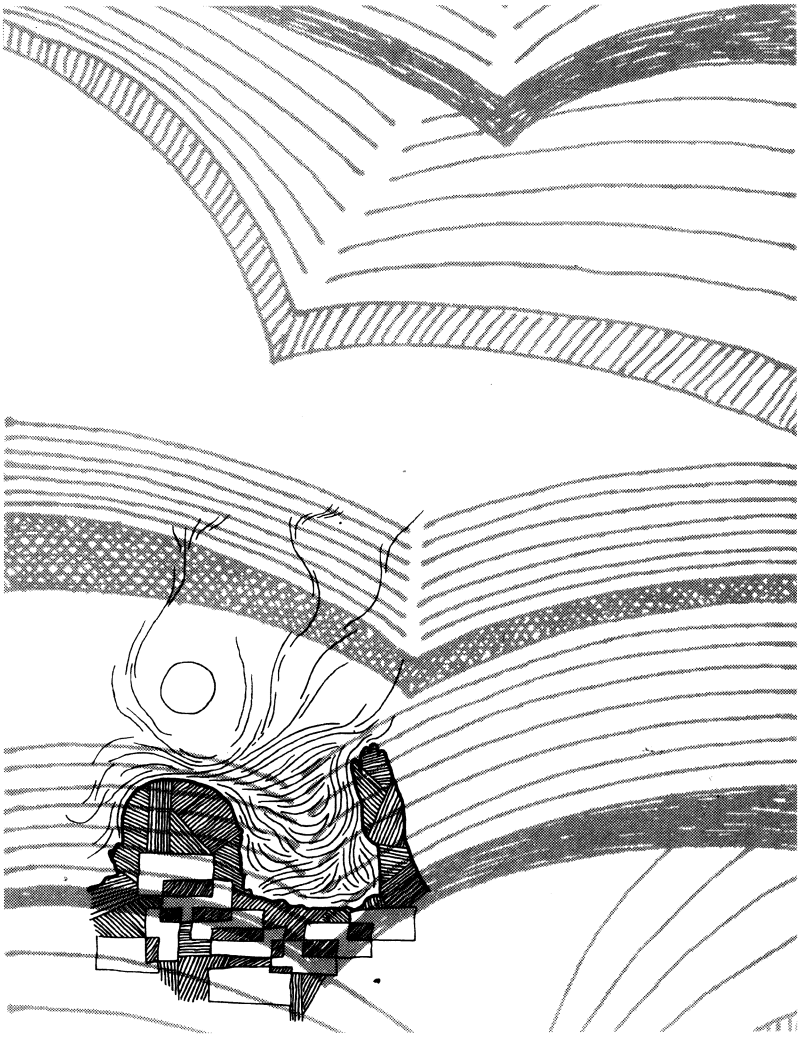

अनुभूति

किसी अलक्षित सूर्य को
देता हुआ अर्घ्य
शताब्दियों से इसी तरह
गंगा के जल में
अपनी एक टांग पर खड़ा है यह शहर
अपनी दूसरी टांग से
बिलकुल बेखबर

—केदारनाथसिंह

पुरुषार्थी जीवन के रचैता : आचार्य भिक्षु

आचार्यश्री तुलसी

एक कवि ने तेरह श्रावक और तेरह साधु की संख्या को ध्यान में रखकर संख्यापरक नाम 'तेरापंथ' किया। आचार्य भिक्षु ने जब यह बात सुनी तो उन्होंने 'हे प्रभो! यह तेरा (तुम्हारा) पंथ'—ऐसा व्यापक अर्थ कर वह नाम स्वीकार कर लिया। अपना प्रथम चातुर्मास उन्होंने केलवा की उस अंधेरी ओरी में बिताया, जो स्थान भयंकर उपद्रवग्रस्त घोषित हो चुका था। इसके बाद अनेक वर्षों तक विरोध का वातावरण रहा। स्थान, आहार और वस्त्र की समस्या रही। जिस समय अधिकतर साधु मर्यादाओं के प्रति उदासीन हो जाएं, उस समय दो-चार की बात कौन माने?

भिक्षु चरमोत्सव
भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी
6 सितंबर
पावन स्मरणांजलि

जन्म और मृत्यु के बीच चार घटनाओं का इतिहास हर आदमी के जीवन में होता है, पर कोई उनको समारोह की तरह मनाने की नहीं सोचता। जो व्यक्ति अपने जीवन में संसार के लिए कोई विशेष काम कर जाता है, उसी की स्मृतियां रह-रह कर ताजा होती हैं। आचार्य भिक्षु उन्हीं विरल पुरुषों में हैं।

विक्रम संवत् 1783 में आचार्य भिक्षु का जन्म हुआ। संवत् 1808 में वे मुनि बने। विक्रम संवत् 1817 में एक क्रांति के साथ उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया। विक्रम संवत् 1832 में उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का निर्वाचन किया और विक्रम संवत् 1860 में उनका स्वर्गवास हुआ। यह दिन युग-युग तक हमारे लिए स्मृति-दिवस के रूप में रहेगा। उस इतिहास को दोहराने का उद्देश्य है—उनकी विशेषता आत्मगत करने का प्रयास करना।

आचार्य भिक्षु बचपन में एक प्रतिभाशाली बालक थे। युवावस्था में ही वे अपनी पत्नी के साथ विरक्त हो गए। पचीस वर्ष की अवस्था में वे साधु बनना चाहते थे, किंतु अचानक उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकारी माना जाता है, पर आचार्य भिक्षु ने इसे अनधिकार चेष्टा बताया। अपने पूर्व-निर्णय के अनुसार उन्होंने तत्कालीन जैनाचार्य श्री रघुनाथजी के पास दीक्षा लेने का निर्णय किया।

जैन दीक्षा-पद्धति के अनुसार दीक्षा से पहले माता-पिता की अनुमति लेना आवश्यक है। आचार्य भिक्षु के पिता तो संसार से चल बसे थे। उनकी माता दीपांबाई ने अनुमति देने से इनकार कर दिया। इस स्थिति में आचार्य भिक्षु ने आचार्य रघुनाथजी से माता को समझाने के लिए निवेदन किया। आचार्य रघुनाथजी दीपांबाई से मिले। उन्होंने दीक्षा की अनुमति न देने का कारण पूछा। दीपांबाई बोली—'जब यह गर्भ में आया, तब मैंने सिंह का स्वप्न देखा था। स्वप्न-पाठकों ने बताया कि यह

बालक बहुत बड़ा राजा बनेगा और सिंह की तरह गूंजेगा। अब आप ही बताएं कि मैं इसे मुनि कैसे बना दूं?' आचार्य रघुनाथजी ने दीपांबाई का यह तर्क अपने तर्क से काटते हुए कहा—'बहिन! राजा तो केवल अपने देश में ही पूजा जाता है, पर साधु देश और विदेशों में सब जगह पूजा जाता है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि यदि यह साधु बनेगा तो सारे संसार में पूजा जाएगा और सिंह की तरह गूंजेगा।'

रघुनाथजी के इन शब्दों ने दीपांबाई का मन बदल दिया। उन्होंने दीक्षा की आज्ञा दे दी। आचार्य भिक्षु ने अपनी मां के पास पर्याप्त धन-वैभव छोड़कर उनकी अच्छी व्यवस्था की और वे मुनि बन गए।

प्रिय शिष्य

दीक्षा के बाद वे आचार्य रघुनाथजी के अत्यंत प्रिय शिष्य हो गए। गुरु ने मानो अपना सारा वात्सल्य उन पर ही उंड़ेल दिया। वे स्वयं घंटों तक बैठकर अपने प्रिय शिष्य को पढ़ाते और उसकी कुशाग्र मति देखकर आत्मतोष पाते। पूज्य रघुनाथजी और आचार्य भिक्षु का तादात्म्यभाव यहां तक बढ़ा कि उन्हें उत्तराधिकारी बनाने की धारणा दृढ़ हो गई। आठ वर्ष तक आचार्य भिक्षु अपने गुरु के साथ रहे। इस लंबे काल के बाद एक परिवर्तन आया और आचार्य भिक्षु ने उसी समय धर्म-क्रांति करके नया आलोक पाया।

शास्त्रों का मंथन करने के बाद स्वामीजी के चिंतन में उथल-पुथल मच गई। उन्हें विश्वास हो गया कि हम अपने आचार से पीछे खिसकते जा रहे हैं। विचारों से भी गलत रास्ते पर बढ़ रहे हैं। यह चिंतन लेकर वे आचार्य रघुनाथजी के पास पहुंचे। उनसे उन्होंने सैद्धांतिक चर्चा की और आचार का सम्यक् पालन करने का अपना निश्चय व्यक्त किया। गुरु-शिष्य के संबंधों में यहीं से अंतर आने लगा। गुरु ने कहा—'तुम श्रावकों को समझाने के लिए गए थे और खुद समझकर आ गए! अब अपनी इस बात पर अड़े रहोगे तो जीना मुश्किल हो जाएगा।' गुरु के विचार शिष्य पर अपना प्रभाव नहीं डाल सके, तब उन्होंने अपने स्नेह-सूत्र में उन्हें बांधने का प्रयास किया। लेकिन स्वामीजी सजग थे। उन्होंने यह सोचकर वह स्नेह-सूत्र एक झटके में ही तोड़ दिया कि जब मैंने दीक्षा ली थी, तब माताजी ने भी मोह किया था। जब मैं उस मोह में नहीं फंसा, तब इसमें फंसकर जीवन को बरबाद करना किंचित भी समझदारी की बात नहीं है।

गुरु-शिष्य के विचारों में समझौते की संभावना नहीं थी। अतः शिष्य ने गुरु से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। वह समय धर्मगुरुओं के जबरदस्त प्रभाव का समय था। स्वामीजी अपने सहयोगियों के साथ ज्यों ही अलग हुए, विरोध का तूफान खड़ा हो गया। स्वामीजी अपने निर्णय पर अडिग रहे। उन्होंने अपना पहला निवास-स्थान श्मशान की छतरियों को बनाया। संघर्ष चलता रहा। स्वामीजी घबराए नहीं।

स्वामीजी जब अलग हुए थे, तब कोई नया संघ चलाने की उनकी योजना ही नहीं थी। किंतु, जोधपुर के एक कवि ने तेरह श्रावक और तेरह साधु की संख्या को ध्यान में रखकर संख्यापरक नाम 'तेरापंथ' किया। आचार्य भिक्षु ने जब यह बात सुनी तो उन्होंने **हे प्रभो! यह तेरा (तुम्हारा) पंथ**—ऐसा व्यापक अर्थ कर वह नाम स्वीकार कर लिया। अपना प्रथम चातुर्मास उन्होंने केलवा की उस अंधेरी ओरी में बिताया, जो स्थान भयंकर उपद्रवग्रस्त घोषित हो चुका था। इसके बाद अनेक वर्षों तक विरोध का वातावरण रहा। स्थान, आहार और वस्त्र की समस्या रही। जिस समय अधिकतर साधु मर्यादाओं के प्रति उदासीन हो जाएं, उस समय दो-चार की बात कौन माने?

प्रारंभ की नाजुक स्थिति का चित्र खींचते हुए आचार्य भिक्षु ने अपने अंतिम वर्षों में कहा—'हम जब उनको छोड़कर अलग हुए थे, तब पांच वर्ष तक तो पूरा आहार भी नहीं मिला। गोचरी करके जंगल में जाते, नदी की रेत में आतापना लेते और वृक्ष की छाया में बैठकर आहार करते। शाम को वापस गांव में आते। इस प्रकार कष्ट सहन करते। हमें क्या पता था कि लोग हमारे विचार सुनेंगे, उन्हें महत्त्व देंगे और हमारे संघ में दीक्षाएं होंगी! हमने तो सोचा कि तपस्या करके आत्म-कल्याण करेंगे।'

इस बात को जयाचार्य ने **भिक्षुजशरसायण** में निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया है—

पांच वर्ष पहिछाण, अन पिण पूरो नां मिल्यो।
बहुलपणै बच जाण, घी चोपड़तो ज्यांही रह्यो।।

नवीन संघ का समुचित संरक्षण करने के लिए आचार्य भिक्षु ने तीन काम विशेष रूप से किए—1. मूल्यों की स्थापना, 2. संघ-संगठन, 3. साहित्य-सृजन।

मूल्यों की स्थापना

दान, दया और सेवा के बारे में उन्होंने नई स्थापना की। आम जनता की यह धारणा थी कि जैसे-तैसे दान देना

धर्म है, स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग है। उचित या अनुचित हर प्रकार से किसी को बचाना दया है, धर्म है और मोक्ष का मार्ग है। स्वामीजी ने इन बातों में संशोधन करके कहा—'दान, दया, सेवा आदि सामाजिक अपेक्षाएं हैं। परस्परता के लिए आवश्यक हैं, लेकिन इन्हें आत्मधर्म मान लेना भयंकर भूल है।'

दान की बात आज के युग में बिलकुल फिट नहीं बैठती। आज कोई भी व्यक्ति दान नहीं, बल्कि अपना अधिकार चाहता है। श्रमिक अपने श्रम का प्रतिदान चाहता है। तथाकथित दान से आज प्रबुद्ध लोग घृणा कर रहे हैं।

संघ-संगठन

संगठन की दिशा में स्वामीजी ने जो काम किया, वह इतिहास की बेजोड़ घटना है। उन्होंने समूचे संघ को एक सूत्र में बांध दिया। उस समय संघ का विस्तार इतना नहीं था। इसलिए इस कार्य का संभवतः इतना महत्त्व नहीं भी आंका गया हो, लेकिन वर्तमान में इस संघ को सुव्यवस्थित बनाए रखने में उनका सर्वाधिक योगदान है। संघ की विशृंखलता का एक कारण होता है—शिष्य-लोलुपता। आचार्य भिक्षु ने इस पर सीधा प्रहार किया। उन्होंने शिष्य-परंपरा बंद कर दी और सब शिष्य एक आचार्य के आदेश-निर्देश में रहें, ऐसा विधान बना दिया।

साहित्य-सृजन

अपने जीवन-काल में अड़तीस हजार पद्य परिमाण साहित्य की रचना करके उन्होंने राजस्थानी वाङ्मय को समृद्ध बनाया। जैन सिद्धांत के रहस्य अनावृत्त करने के लिए उनका साहित्य पूर्णरूप से सक्षम है। अनेक विरोधों और संघर्षों के बावजूद उनकी लेखनी अविरत चलती रही।

अनशन स्वीकार कर लिया

तीन काम पूरे करने के बाद आचार्य भिक्षु ने अपना अंतिम चातुर्मास सिरियारी (मारवाड़) में किया। सतहत्तर वर्ष की अवस्था तक वे अपना सारा काम हाथों से करते थे, गोचरी स्वयं करते थे और प्रतिक्रमण खड़े-खड़े करते थे। वे जीवन-भर प्रायः स्वस्थ रहे। अंतिम समय में जब स्वास्थ्य थोड़ा गिरने लगा तो उन्होंने अनशन करने का निश्चय कर लिया।

संवत्सरी के उपवास के पारणे के बाद आचार्य भिक्षु ने संतों के सामने अनशन की बात चलाई। वे उसी समय अपने चिंतन को क्रियान्वित करना चाहते थे, किंतु खेतसीजी, भारीमलजी आदि संतों के आग्रह पर थोड़ा-सा आहार करने के लिए राजी हो गए। फिर भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के दिन उन्होंने भारमलजी आदि संतों को अपने पास बिठाकर आमरण अनशन कर लिया।

अंतिम शिक्षा

अपनी अंतिम शिक्षा फरमाते हुए उन्होंने कहा—'मैं अब तुम लोगों के बीच ज्यादा नहीं रहूंगा। तुम सब मुझे जैसा समझते हो, वैसा ही भारमल को समझना। प्रत्येक कार्य इसकी आज्ञा से करना। सिद्धांतों पर दृढ़ रहना और आचार-विचार पक्ष को मजबूत रखना। सभी साधु-साध्वियां परस्पर विशेष सौहार्द से रहना। दीक्षा देते समय सजग रहना। दीक्षार्थी की पूरी जांच करके उसे योग्य समझकर दीक्षा देना। जो आ गया, उसी को मूंड लेने का प्रयास मत करना। साधना की कसौटी पर जो खरा उतरे, उसे ही दीक्षा देना।'

अतींद्रिय ज्ञान की प्राप्ति

स्वामीजी के अनशन की खबर हवा की तरह सब जगह फैल गई। हजारों दर्शनार्थी भाई-बहिनों का तांता-सा लग गया। भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी, विक्रम संवत् 1860 के दिन स्वामीजी ने साधुओं से कहा—'संत आ रहे हैं। तुम लोग उनके सामने जाओ।' थोड़ी देर बाद कहा—'साध्वियां आ रही हैं।' समीपस्थ मुनियों ने सोचा कि स्वामीजी का मन साधु-साध्वियों में रह गया है, इसलिए ये ऐसा कह रहे हैं। किंतु दोपहर तक जब संतों और साध्वियों को वहां पहुंचा देखा तो उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

इस घटना से ऐसा अनुमान होता है कि विशिष्ट आत्माओं को अंतिम समय में अतींद्रिय ज्ञान पैदा हो जाता है। तत्कालीन साधु उस ज्ञान के द्वारा आगत और अनागत की बहुत-सी बातें जानना चाहते थे, किंतु वह समय निकल गया। स्वामीजी बोलने में असमर्थ हो गए थे।

त्रयोदशी के ही दिन लगभग सात प्रहर के अनशन में यह पार्थिव शरीर छोड़कर वे स्वर्गस्थ हो गए। हजारों लोग उनकी महाप्रयाण-यात्रा में सम्मिलित हुए।

स्वामीजी संसार से चले गए, पर उन्होंने जो दिशा दी, वह आज भी हमारे लिए गौरव की बात है। उनका समूचा जीवन सक्रिय और पुरुषार्थी रहा। उनके आदर्शों पर चलकर सत्य-धर्म का प्रसार हो, यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है। ❖

विनयात् याति पात्रताम्

मुनि सुखलाल

संप्रदायों की शुरुआत सदैव शुभ उद्देश्य को लेकर होती है। उनके अपने कुछ विधि-विधान भी होते हैं। कुछ विधि-विधान शाश्वत होते हैं, तो कुछ सामयिक। शाश्वत विधि-विधान प्रायः सभी संप्रदायों में एक जैसे ही होते हैं। सामयिक विधि-विधानों में समय-समय पर परिवर्तन भी अपेक्षित होता रहता है। जो संप्रदाय देश-काल के सत्य को समझ जाते हैं, उनकी ग्राह्यता बनी रहती है। तेरापंथ का भी अपना सुनिश्चित विधि-विधान है। पर, इस संप्रदाय के आचार्यों ने आवश्यक परिवर्तनों की राह को बंद नहीं किया। हां, इस बात पर अवश्य सोचा जाता रहा है कि परिवर्तन के नाम पर उच्छृंखलता का प्रवेश न हो। युवाचार्यश्री महाश्रमण संघ की मौलिक मर्यादाओं के प्रति कठोरता की सीमा तक जागरूक हैं।

युवाचार्य
मनोनयन दिवस
भाद्रपद शुक्ला द्वादशी
5 सितंबर, 2006
□
हर्ष-हर्ष

मनुष्य के अस्तित्व का यात्रापथ एक अगम्य रहस्य है। यह कहां से शुरू होता है और कहां शेष होगा, जान पाना अत्यंत कठिन है। मनुष्य बनना भी एक दुर्लभ संयोग है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो भगवान भी बन सकता है और शैतान भी। अन्य प्राणियों के लिए ऐसे चुनाव के अवसर नहीं है। उन्हें तो जो प्राप्त है, वही भोगना है। मनुष्य के लिए भी काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्योग—ये पांच प्रतिबंधक घटक हैं। अन्य प्राणी भी इस पंचसमवाय से प्रतिबद्ध हैं। पर, पुरुष के पास पुरुषार्थ एक विकल्प है, जिसके बल पर भगवत्ता की ओर चरण बढ़ सकते हैं।

युवाचार्यश्री महाश्रमण एक ऐसे प्रणम्य संत हैं जिनके चरण भगवत्ता की दिशा में आगे बढ़ते प्रतीत हो रहे हैं। प्रणम्य वही व्यक्ति बन सकता है, जो मूल्यों का जीवन जीता है। साधना ही जीवन में मूल्यों का निवेश करती है। यह सही है कि हर मनुष्य अपने मां-बाप के गुणसूत्रों की गूढ़ संरचना का प्रतिबिंब होता है। हर परिणाम को साध्य तक पहुंचने में साधक-बाधक परिस्थितियों का भी सामना करना पड़ता है। मनुष्य का विवेकपूर्ण पुरुषार्थ बाधक परिस्थितियों को लांघ कर उसे साधक परिस्थितियों से लाभान्वित कर सकता है।

13 मई, 1962 को राजस्थान के सरदारशहर कस्बे में आपने बालक मोहन के रूप में जन्म लिया। आपकी जन्म-कुंडली में गणित के कुछ विशेष समीकरण दृष्टिगत होते हैं। सहज ही आपको सत्पुरुषों की संगति के अवसर मिलते हैं और 12 वर्ष की उम्र में तेरापंथ धर्मसंघ में मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। 12 वर्ष की उम्र यद्यपि बहुत बड़ी नहीं होती, आम बच्चों के लिए तो यह खेलने-कूदने की उम्र होती है। पर, आपके मन में वैराग्य के अंकुर फूटे और आपने मुनि बनने का संकल्प कर लिया। अपनी बाल-बुद्धि के अनुसार एकांत में बैठकर आपने इस पर गहन चिंतन किया। परिवार के लोगों ने भी आपको मुनि बनने की आनन-फानन में इजाजत नहीं दी। उन्होंने भी सूक्ष्मता से आपके वैराग्य भावों का अंकन किया। जब उन्हें विश्वास हो

गया कि आपके वैराग्य भाव पक्के हैं, तभी आपको मुनि बनने की स्वीकृति मिली। 5 मई, 1974 को अपने ही नगर सरदारशहर में दीक्षा-संस्कार संपन्न हुआ। आपका नया नाम रखा गया—मुनि मुदितकुमार।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—के अनुसार आपके गुरु आचार्यश्री तुलसी को प्रारंभ में ही मुनि मुदितकुमार में कई दुर्लभ विशेषताओं के संकेत मिल गए थे। इसीलिए आपकी शिक्षा पर समुचित ध्यान दिया गया। तत्समय के युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी का भी आपको सहज सान्निध्य मिला। दोनों ही महापुरुषों में व्यक्तित्व को तराशने की अद्भुत क्षमता है। अनेकों व्यक्तित्वों का इन महापुरुषों ने सुघड़ निर्माण किया है। असल में वही प्रस्तरखंड मंजुलमूर्ति बन सकता है जो कलाकार के हथौड़े की चोट को सहन कर ले। मुनि मुदितकुमार में वह क्षमता थी। आपने प्रारंभ से ही अपने-आप को अध्ययन में निमग्न कर दिया। थोड़े ही समय में आगमों का गहन अध्ययन कर लिया। साधना में विशेष अभिरुचि के कारण यद्यपि आप अंग्रेजी भाषा के प्रति खास आकर्षित नहीं थे, पर अपने गुरु आचार्यश्री तुलसी की यह भावना थी कि प्राचीनता और आधुनिकता में संतुलन बनाने के लिए संघ के विशिष्ट साधु-साध्वियों को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी होना चाहिए। इस दृष्टि से आपको एक बार भरी परिषद् में खड़ा कर कड़ाई से अंग्रेजी पढ़ने के निर्देश दिए गए। विनीत शिष्य की तरह आपने आचार्यश्री के निर्देश का पालन किया। संस्कृत, व्याकरण, 'भिक्षुशब्दानुशासनम्' के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का भी अध्ययन किया।

आपने ज्ञान को केवल कंठस्थ ही नहीं किया, अपितु जो कंठस्थ किया उसका निरंतर अनुचिंतन भी किया। आपका ज्ञान परिपक्व बन गया। आचार्यश्री तुलसी की यह विशेषता थी कि वे अपने शिष्यों की योग्यता का समाकलन करने के लिए किसी भी रूप में प्रश्नों की बौछार करते रहते थे। एक दिन तीर्थंकरों की आठ प्रातिहार्य विशेषताओं पर विचार करते हुए उन्होंने इस प्रातिहार्य शब्द का अर्थ पूछा। काफी संत बैठे थे। सभी पंचपद वंदना में आठ प्रातिहार्य अतिशयों का सदा पाठ करते हैं। पर, अचानक पूछे गए प्रश्न का उत्तर थोड़ा कठिन प्रतीत हो रहा था। उसी क्षण में मुनि मुदितकुमार ने अभिधान चिंतामणि कोश के संदर्भ का उच्चारण करते हुए कहा—'स्यात् प्रातिहारिको मायाकारः' प्रातिहारिक का अर्थ है—चमत्कार करने वाला। तीर्थंकरों को कुछ अतिशय जन्म से ही प्राप्त होते हैं। कुछ अतिशय कर्मों के नष्ट होने पर प्राप्त होते हैं, कुछ अतिशय प्रतिहार देवताकृत होते हैं। देवताकृत अतिशय एक प्रकार से चामत्कारिक होते हैं। इसलिए उन्हें प्रातिहार्य कहा जाता है।

आचार्यश्री तुलसी मुनि मुदितकुमार के उत्तर से पूर्णतः संतुष्ट थे। ऐसे प्रसंग अनेक बार आते थे, जब मुनि मुदितकुमार के उत्तर की प्रतीक्षा की जाती थी। तत्क्षण उत्तर आपके ज्ञान के अनुचिंतन का परिणाम ही माना जाएगा। तोता-रटंत वाला ज्ञान बहुत लोग कर लेते हैं। पर, जब तक उस पर अनुचिंतन नहीं होता है तो बहुश्रुतता नहीं आती। मुनि मुदितकुमार की यह सहज प्रवृत्ति थी। आप अपने समय को व्यर्थ नहीं गंवाते। फालतू बातों का प्रसंग तो बहुत ही कम बनता था। जब भी थोड़ा समय मिलता, पाठ को याद करने या याद किए हुए का अनुचिंतन करने में लगाते रहे। यही कारण रहा कि आप बहुश्रुत साधुओं की कोटि में पहुंच गए।

संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है—**विद्या ददाति विनयं, विनयात् याति पात्रताम्**'—विद्या विनय प्रदान करती है। विनय से पात्रता प्राप्त होती है। यह अनुभववाणी आप पर शत-प्रतिशत लागू होती है। बहुत-सारे लोग थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अहंकार से भर जाते हैं। मुनि मुदितकुमार में अहंकार नहीं, अपितु विनम्रता का विकास हुआ। विनय से आपने पात्रता का अर्जन किया। इसी पात्रता के कारण आपको 16 फरवरी, 1986 से युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के साथ काम करने के लिए नियुक्त कर दिया गया। इस अवसर का आपने भरपूर लाभ उठाया। आपकी विनयशीलता एवं पात्रता के कारण आपको आचार्यश्री तुलसी की वैयक्तिक सेवा का भी लाभ मिला। आपने अपने दायित्व का इतनी जागरूकता से पालन किया कि कभी कार्यवश यदि आप थोड़ी देर के लिए भी आचार्यश्री तुलसी से दूर जाते तो दूसरे साधुओं को सेवा के प्रति सचेष्ट करके जाते। ऐसा समर्पण-भाव बहुत कम लोगों में मिलता है। आपकी विशेषताओं के कारण ही आपको 9 सितंबर, 1989 को महाश्रमण का विशेष संबोधन प्रदान किया गया। जैन परंपरा में आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक आदि सात पदों का तो विधान है, पर महाश्रमण पद का उल्लेख नहीं है। मुनि मुदितकुमार की योग्यताओं को पहचान देने के लिए ही जैन परंपरा में प्रथम बार महाश्रमण संबोधन प्रदान किया गया। भाद्रपद शुक्ला

द्वादशी संवत् 2054 (14 सितंबर, 1997) को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आपको युवाचार्य पद पर अधिष्ठित कर दिया। आपका महाश्रमण संबोधन इतना सार्थक हुआ कि वही आपका मूल अभिधायक नाम बन गया।

तेरापंथ में आचार को सर्वोपरि महत्त्व है। ज्ञान-विज्ञान या कला के क्षेत्र में बहुत लोग प्रवीण हो सकते हैं। पर, यदि आचार-कुशलता नहीं है तो सब कुशलताएं गौण हैं। युवाचार्यश्री महाश्रमण प्रारंभ से ही एक आचार-कुशल संत रहे हैं। साध्वाचार की छोटी-छोटी बातों पर भी आप निरंतर जागरूक रहे हैं। आपकी अप्रमत्तता दूसरों को भी सदा जागरूकता का पाठ पढ़ाती रही है।

यह बहुत पहले की बात है। उस समय आप एक बाल-मुनि ही थे। आचार्यश्री तुलसी के साथ शाम के समय हम मारवाड़ के एक छोटे-से गांव में पहुंचे। जिस पुराने मकान में हम ठहरे थे, उसमें एक बड़ी खिड़की थी। मैंने सहज रूप से उस खिड़की को खोल दिया। तत्काल पीछे से बाल-मुनि मुदितकुमार की आवाज उभरी—मुनिश्री! क्या हमें चूलिए की खिड़की खोलनी कल्पती है? मैंने गौर से देखा—खिड़की वास्तव में चूलिए की ही थी। मैंने अपनी गलती को स्वीकार किया। मुझे बाल-मुनि मुदितकुमार की आचार-निष्ठा एवं निर्भीकता के प्रति गौरव अनुभव हुआ। आचार-निष्ठा की इसी खूबी ने आपको आगे बढ़ाया और आज आप तेरापंथ संघ के युवाचार्य पद को सुशोभित करते हैं।

वास्तव में युवाचार्यश्री महाश्रमण श्रेष्ठताओं के एक दुर्लभ समवाय हैं। उम्र से भी ऊंचे हैं—आपके आचार, विचार, व्यवहार और संस्कार। साधुता आपकी आत्मा है। श्रद्धा, समर्पण, विनय, विवेक जैसे सद्गुण आपमें सहज निहित हैं। अनुशासन, मर्यादा आपके आत्मधर्म हैं। सत्य के प्रति आप में अटूट निष्ठा है। आपकी वाणी में सत्य के प्रति प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से झलकती है। चिंतन में स्पष्टता एवं कर्म में अप्रमत्तता आपकी स्थितप्रज्ञता के द्योतक हैं। आज के सुविधावादी युग में आरामतलब हो जाना सहज बात है। पर युवाचार्यश्री महाश्रमण शुरू से ही साधनाशील संत रहे हैं। अनुभव-गुरु बनाने के लिए एक बार आपको मारवाड़ की छोटी यात्रा के लिए भेजा गया। बगड़ी 'मर्यादा महोत्सव' से पूर्व सोजत रोड में आप अपनी लघुयात्रा संपन्न कर जब आचार्यवर के सान्निध्य में पहुंचे तो आचार्यश्री ने फरमाया—'महाश्रमण! आचार्य भिक्षु ने अपने परम विनीत शिष्य भारमलजी से कहा था—यदि किसी ने तुम्हारे में कोई गलती बताई तो तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप एक तेला करना पड़ेगा। मैं तुम्हारे लिए तेले की बात तो नहीं करता, पर एक बात अवश्य कहना चाहता हूं कि आज सुविधावाद का युग है। साधु समाज इसका अपवाद हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस स्थिति को देखते हुए मैं तुम्हारे पर एक प्रयोग करना चाहता हूं। यदि तुम्हारे बारे में सुविधावादी होने की कोई शिकायत आई, या तुम्हारी सुविधावादी प्रवृत्ति मेरे स्वयं के ध्यान में आई तो तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप तीन दिनों तक प्रतिदिन तीन-तीन घंटे का खड़े-खड़े ध्यान करना होगा।'

भारमलजी स्वामी ने उस समय आचार्य भिक्षु के समक्ष एक प्रतिप्रश्न प्रस्तुत किया—'गुरुदेव! यदि कोई मेरी शिकायत करे तो मैं निश्चित रूप से आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। पर, हमारे विरोधियों की कोई कमी नहीं है। यदि कोई झूठमूठ ही मेरी शिकायत कर दे, तो भी क्या मुझे तेला करना पड़ेगा?'

पर, महाश्रमणजी ने कोई सवाल नहीं खड़ा किया। भारमलजी स्वामी का उस समय प्रश्न पूछना अनुपयुक्त नहीं था। क्योंकि उस समय तेरापंथ के विरोधी लोग इतने सक्रिय थे कि वे किसी भी बात को बेवजह तूल दे सकते थे। पर, महाश्रमण को अपने-आप पर ही विश्वास था कि मैं न तो सुविधावादी बनूंगा और न ही मेरी कोई शिकायत करेगा। फिर भी मेरे से यदि कोई प्रमाद हो गया तो मैं गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य करूंगा। इसीलिए आपने तत्क्षण 'तहत्' कहकर आचार्यश्री के वचन को स्वीकार कर लिया।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी सहज कर्मयोगी हैं। योग का शाब्दिक अर्थ है जोड़ना। चित्त-प्रवाह को किसी एक पवित्र ध्येय के साथ जोड़ना तथा विषय जगत् की ओर धावमान इंद्रिय-समूह को एक-दिशागामी बनाना ही योग का मूल उद्देश्य है। भले ही युवाचार्यश्री लंबे समय तक आंखें बंद कर ध्यान मुद्रा में न बैठते हों, पर आपने अपने मन को इस प्रकार साध लिया है कि जिस कार्य के साथ जुड़ जाते हैं, उसी में तन्मय बन जाते हैं। मन को इस प्रकार एकाग्र कर लेना कोई सरल बात नहीं है। मन, वाणी और कर्म का संतुलन ही जीवन की सफलता का परम रहस्य है। अनवरत साधना के बाद ही मनुष्य ऐसा संतुलन साध सकता है।

जिन निमित्तों से मानसिक संतुलन बिगड़ता है, उनका मुख्य घटक हमारा मन है। इंद्रियां भी चेतना को विकृत बनाती हैं, पर मन पर अंकुश लग जाए तो इंद्रियां अपने-

आप सन्मार्ग की ओर प्रस्थित हो जाती हैं। मन भी एक पौद्‍गलिक सरंचना है। हमारी वृत्तियां ही उसे विकृत बनाती हैं। वृत्तियां जन्म-जन्मांतर से पीछा करती हैं। जो आदमी वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसके कषाय क्षीण हो जाते हैं। युवाचार्यश्री महाश्रमण को शायद ही किसी ने क्रोधाविष्ट देखा हो। इसी प्रकार अहंकार, कपट तथा पदार्थ की आसक्ति से भी आप प्रायः दूर ही देखे जाते हैं। नाम और यश की भावना से अप्रभावित, अपने काम में डूबे रहना ही आपकी साधना का मर्म है। कर्म का आधार तथा उत्पादक यंत्र शरीर में ही निहित है। हमारे स्थूल शरीर के साथ कई तरह के सूक्ष्म शरीर जुड़े हुए हैं। आज की मनोवैज्ञानिक भाषा में इसे ही ऊर्जा-केंद्र कहते हैं। स्थाई स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि मस्तिष्क और शरीर का पारस्परिक संबंध पवित्र व संतुलित रहे। यह स्पष्ट है कि दोनों एक-दूसरे को निरंतर प्रभावित करते हैं। युवाचार्यश्री ने अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित कर इन दोनों में संतुलन बनाने का प्रयास किया है। इसीलिए आप एक कर्मयोगी संत हैं।

शांति सभी चाहते हैं। पर, कठिनाई यह है कि प्रायः शांति को पदार्थ में खोजा जाता है। पदार्थ केवल हमारे मन एवं इंद्रियों को तृप्त कर सकते हैं। उनसे स्थाई शांति संभव नहीं है। शांति तो मनुष्य का अपना स्वयं का उत्पादन है। जो आदमी इस तथ्य को समझ जाता है, वह न केवल स्वयं शांत-प्रशांत बन जाता है, अपितु दूसरों के लिए भी शांति का संदेशवाहक बन जाता है। युवाचार्यश्री महाश्रमण ने इस तथ्य को बहुत जल्दी ही समझ लिया। इस समझ के कारण ही आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने गंगाशहर में विशाल जन-समूह के बीच अपने उत्तराधिकारी के रूप में उन्हें युवाचार्य घोषित किया। इस घोषणा से संघ में नई चेतना का संचार हुआ।

संप्रदायों का अस्तित्व दुनिया में सदा से रहा है। यह क्रम निरंतर बना रहने वाला है। आदमी आकाश में कुछ देर के लिए छलांग भर सकता है, पर अंततः उसे अपने पैर जमीन पर ही टिकाने पड़ते हैं। असल में हर विचार ही एक संप्रदाय है और जो विचार अनेक लोगों की आस्था का स्पर्श कर लेता है वह संप्रदाय का वास्तविक रूप बन जाता है। इसीलिए संप्रदायों का नास्तित्व असंभव है। आम आदमी को किसी-न-किसी संप्रदाय का सहारा लेना ही पड़ता है। संप्रदाय सत्य को समझने का एक सापेक्ष दृष्टिकोण भी है। संप्रदाय से जब सापेक्षता लुप्त हो जाती है, वह कट्टरपंथी बन जाता है। कट्टरपंथिता के कारण संप्रदायों का इतिहास बहुत बार अत्यंत दारुण बनता रहा है। युवाचार्यश्री महाश्रमण के गुरु आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने इसी बात को महसूस कर कट्टरता से बचने का आह्वान किया। उसी का परिणाम है—अणुव्रत आंदोलन। अणुव्रत की मूलभावना भगवान महावीर की ही देन है। जब उस पर संप्रदाय का कुहरा छा गया तो आचार्यश्री तुलसी ने उसे हटाकर अणुव्रत को एक आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

वास्तव में तेरापंथ के मूल विचार में ही एक असांप्रदायिक दृष्टि रही है। सभी संप्रदायों का यही आग्रह रहता है कि हमारे संप्रदाय में आकर ही आदमी धर्म का आचरण कर सकता है, बंधनमुक्त बन सकता है। पर, आचार्य भिक्षु ने इस बात पर कभी जोर नहीं दिया। उन्होंने कहा—'सम्यक्त्वी की करणी तो धर्म और मुक्ति का मार्ग है ही, पर मिथ्यात्वी की करणी भी धर्म की देशाराधना बन सकती है।' वास्तव में जैन धर्म का सापेक्षवाद ही सत्य की समीचीन व्याख्या है। सौभाग्य से युवाचार्यश्री महाश्रमण को सहज ही यह संप्रदाय मिला है और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की अहिंसा-यात्रा ने तो तेरापंथ का असांप्रदायिक आभामंडल बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अहिंसा-यात्रा ने जैन और अजैन लोगों से निकटतम संपर्क बनाया और मुसलमान, ईसाई लोगों से भी इस यात्रा में गहरा संपर्क स्थापित हुआ।

संप्रदायों की शुरुआत सदैव शुभ उद्देश्य को लेकर होती है। उनके अपने कुछ विधि-विधान भी होते हैं। कुछ विधि-विधान शाश्वत होते हैं, तो कुछ सामयिक। शाश्वत विधि-विधान प्रायः सभी संप्रदायों में एक जैसे ही होते हैं। सामयिक विधि-विधानों में समय-समय पर परिवर्तन भी अपेक्षित होता रहता है। जो संप्रदाय देश-काल के सत्य को समझ जाते हैं, उनकी ग्राह्यता बनी रहती है। तेरापंथ का भी अपना सुनिश्चित विधि-विधान है। पर, इस संप्रदाय के आचार्यों ने आवश्यक परिवर्तनों की राह को बंद नहीं किया। हां, इस बात पर अवश्य सोचा जाता रहा है कि परिवर्तन के नाम पर उच्छृंखलता का प्रवेश न हो। युवाचार्यश्री महाश्रमण संघ की मौलिक मर्यादाओं के प्रति कठोरता की सीमा तक जागरूक हैं। आपका मानना है कि जो परिवर्तन अपेक्षित समझे जाएं, वे किए जा सकते हैं, पर

जिस रेखा को सर्वसम्मति से निर्णायक मान लिया गया है, उसका कोई भी अतिक्रमण न करे। आपका मानना है कि जो 'तर्क' को सुनें ही नहीं, वे कट्टर हैं। जो 'तर्क' करने का साहस ही न कर सकें, वे कायर हैं। यह सही है कि युवाचार्य का दायित्व बहुत गुरुतर होता है। अपने गुरु के प्रति आपकी निष्ठा अचल है। गुरु का हर आदेश आपके लिए स्वीकार्य ही नहीं, शिरोधार्य है। पर, अपनी बात को बेझिझक प्रस्तुत करने की विनम्र कला भी आपमें है। सचमुच यह आत्म-स्वीकृति आपके व्यक्तित्व की विरल विशेषता है। आपके जीवन में एक सहज नम्रता है। किसी के प्रति कठोर आचरण से तो आप दूर रहते ही हैं, पर कठोर भाषा का प्रयोग भी आपके स्वभाव में नहीं है। इसीलिए आप सब लोगों के लिए समान रूप से समादरणीय हैं।

तेरापंथ एक आचार्य-केंद्रित धर्म-संप्रदाय है। इस संप्रदाय की यह अपनी दुर्लभ विशेषता भी है। इससे आचार्य का कार्यक्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो जाता है। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने धर्मसंघ को इतने व्यापक आयाम दे दिए हैं कि इन सबके सुचारु संचालन के लिए अनेक दक्ष व्यक्तियों की आवश्यकता है। उन सब दक्ष व्यक्तियों में युवाचार्यश्री का स्थान सबसे ऊंचा है। वैसे भी 'युवाचार्य' ही 'आचार्य' के प्रतिनिधि होते हैं। इस दृष्टि से युवाचार्यश्री महाश्रमण की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी फरमाते भी हैं कि युवाचार्य महाश्रमण ने मेरे कार्य को बहुत हलका कर दिया। निश्चय ही आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पास इतने महत्त्वपूर्ण कार्य हैं कि बिना 'युवाचार्य' के सक्रिय सहयोग के उन्हें संपादित करना कठिन है। इस दृष्टि से युवाचार्यश्री महाश्रमण का समय-प्रबंधन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आप की स्मृति तो अत्यंत कुशाग्र है ही, पर आवश्यक बातों को लिपिबद्ध करने की भी आपमें विशेष जागरूकता है। संघ के एक-एक सदस्य के योगक्षेम के प्रति आपकी तत्परता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। साधु-साध्वियों और समण-समणियों की व्यवस्था तो है ही, पर क्षेत्रीय आवश्यकताओं पर भी आपको पूरा ध्यान देना पड़ता है। संघीय व्यवस्थाओं के प्रति अत्यंत सर्तकता बरतने के साथ-साथ अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, अहिंसा-प्रशिक्षण आदि सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रति भी आपकी पूर्ण जागरूकता है। युवाचार्यश्री का यह विशेष लक्ष्य रहता है कि हम जिस भी कार्य को हाथ में लें, उसे पूरी दक्षता से संपन्न भी करें। आपकी प्रशासन-क्षमता से पूरे धर्मसंघ को एक निश्चिंतता प्राप्त हुई है। ऐसा लगता है, तेरापंथ का भविष्य भी सुरक्षित हो गया है। युवाचार्यश्री का आंतरिक व्यक्तित्व तो आकर्षक है ही, पर गौरव तथा प्रसन्नता से भरा हुआ मुखमंडल भी सहज ही सब लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। ❖

विज्ञान सचमुच अक्षम है; जितना खोज से मिलता है, उसको भी साधारण आदमी तक पहुंचा नहीं सकता। ब्रह्मांड के बारे में आइन्स्टाइन ने एक बहुत बड़ी बात का आविष्कार किया, लेकिन विज्ञान अभी तक उसको समझा नहीं सका है। पढ़े-लिखे लोगों तक को भी उनका आविष्कार तथ्य जैसा नहीं लगता, कल्पना जैसा लगता है। धर्म जिन बातों को कहकर आस्था पैदा करता है, वे कल्पनाएं ही हैं। कल्पना बेईमान नहीं होती है। जिन बातों के लिए फिलहाल प्रमाण या तथ्य नहीं मिल रहे हैं, उन बातों को कल्पना के द्वारा समझना हमारा अधिकार है। जब चरित्रवान, निःस्वार्थ और सुंदर व्यक्तित्व वाला कोई साधु, संत, पैगंबर कल्पना से ही इन सवालों का उत्तर देता है तो साधारण मनुष्य को उसका उत्तर विज्ञान से भी अधिक ठोस लगता है; पुराण की बातें इतिहास या अखबार से भी अधिक विश्वास पैदा करती हैं। बहुत पुरानी पड़ने पर पैगंबरों की भी बहुत बातें गलत साबित हो जाती हैं—लेकिन ऐसा तो विज्ञान में भी होता है। विज्ञान की भी कई बातें पुरानी हो जाती हैं लेकिन पुराने विज्ञान के आधार पर हम जो आचरण और संस्था आदि बना लेते हैं, उनको बदलते नहीं हैं। हम आइन्स्टाइन के सिद्धांत को सत्य मानते हैं पर न्यूटन के जमाने की धारणाओं के मुताबिक आचरण करते हैं। अंधविश्वास विज्ञान में भी होता है। परंतु इतना सही है कि विज्ञान अंधविश्वास को तोड़ने की कोशिश करता रहता है जबकि धर्म संस्थागत रूप में उसको मजबूत बनाने की कोशिश करता है, क्योंकि यह 'आस्था' की बात है। पुरानी आस्था को तोड़ने से कहीं मनुष्य आस्थाहीन न हो जाए, यह डर भी रहता है।

—किशन पटनायक

रंगत प्रेम चढाय दे ऐसा गुरु करि लेह

✍ साध्वी कनकश्री

समर्पण पूर्णिमा है, अहंकार अमावस। परमात्मा को खोजने के लिए कैलास, काशी, काबा, गया या पावा जाने की अपेक्षा नहीं है। परमात्मा वहां है, जहां कोई सद्गुरु है। आज संप्रदाय-धर्म बहुतों को ज्ञात है, किंतु परमात्मा का धर्म अज्ञात है। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारा ज्ञात हैं, पर परमात्मा का निवास कहां है? पता नहीं। वह सर्वथा अज्ञात है। जिस क्षण हमारे कदम उस परमात्म-तत्त्व की खोज में आगे बढ़ते हैं, वही क्षण जीवन की सुबह है। रुका हुआ कदम अमावस है, उठा हुआ कदम पूनम है। परमात्मा का रास्ता गुरु ही बता सकते हैं। गुरु के साथ एक कदम भी उठा लें, उनके सहयात्री बन जाएं तो पूर्णिमा घटित हो सकती है।

5 सितंबर शिक्षक दिवस पर विशेष

सिकंदर महान अपने विश्व-विजयी अभियान के अंतर्गत भारत-यात्रा के लिए प्रस्थान कर रहा था। उस समय गुरु अरस्तू से पूछा—'आपके लिए क्या लाऊं?' अरस्तू ने कहा—'ऐसा गुरु, जो मुझे ब्रह्मज्ञान दे सके।'

संस्कृति की महान देन : गुरु-शिष्य परंपरा

यह गुरु-शिष्य परंपरा हमारी संस्कृति की ही महान देन है। जैन, बौद्ध, हिंदू, सिक्ख, ईसाई, मुस्लिम, यहूदी आदि सभी परंपराएं गुरु और गुरु-निष्ठा को विकास का मंत्र मानती हैं। सभी धर्मों के संतों, आचार्यों व समाज-सुधारकों ने एकमत से गुरु तत्त्व की उपयोगिता को स्वीकार किया है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज-विकास का आधार है—संबंधों का विस्तार। मानवीय संबंधों का क्षितिज व्यापक है। उसमें गुरु-शिष्य का संबंध सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। यह संबंध मनुष्य ही स्थापित कर सकता है। उसमें जिज्ञासा होती है, वह सदा श्रेष्ठ को खोजना और पाना चाहता है। खोज का आधार है ज्ञान, और ज्ञान के स्रोत होते हैं—गुरु।

लौकिकं वैदिकं वापि, तथाध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं, तं पूर्वमभिवादयेत्।।

व्यवहार के धरातल पर गुरु तीन प्रकार के होते हैं। उनमें प्रथम गुरु है—मां, वह सृजन करती है। दूसरा गुरु है—पिता, वह पालन करता है और तीसरा गुरु है—शिक्षक या आचार्य, वह शिक्षण-प्रशिक्षण और अनुशासन द्वारा शिष्य-समुदाय को संस्कारित, रूपांतरित करता है। माता-पिता जन्म देते हैं और गुरु जीवन देते हैं। मातृ देवो भव, पितृ देवो भव और आचार्य देवो भव—ये सूक्ति ऋचाएं तीनों ही गुरुजनों की महिमा का संगान करती हैं।

भगवान महावीर की शिष्यता स्वीकार कर इंद्रभूति गौतम का व्यक्तित्व रूपांतरित हो गया। तथागत बुद्ध के शिष्य बन आनंद ने अलौकिक आभा प्राप्त की। आचार्यश्री तुलसी के शिष्य कहलाने में विश्व के महान चिंतक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी

स्वयं को सौभाग्यशाली मानते हैं। सुकरात का शिष्य कहलाने में प्लेटो, प्लेटो का शिष्य कहलाने में अरस्तू तथा थोरो का शिष्य कहलाने में इमर्सन विशेष गौरव का अनुभव करते थे। इसी प्रकार समर्थगुरु रामदास और शिवाजी, स्वामी रामकृष्ण 'परमहंस' और विवेकानंद आदि के गुरु-शिष्य संबंध विलक्षण थे। यह गुरु-शिष्य परंपरा पीढ़ियों को समर्थ-कृतार्थ बनाने वाली अलौकिक संपदा है, जो जनम-जनम के तप और सुकृत के परिणामस्वरूप मिलती है।

गुरु ज्ञानी होता है। शिष्य की प्रकृति, रुचि, संस्कार और सामर्थ्य के अनुरूप ही वह ज्ञान का प्रसव करता है। शिष्य में स्वयं को प्रतिष्ठित करता है। प्रकाश के बीज बोता है। बीजाधान से ही फल का उद्‌भव होता है।

ज्ञानदाता गुरु की दो श्रेणियां हैं। एक गुरु होते हैं—लौकिक। उन्हें शिक्षक या अध्यापक कहते हैं। वे विभिन्न विद्या-शाखाओं का ज्ञान कराते हैं और समाज में गौरवपूर्ण जीवन जीने की कला सिखाते हैं। दूसरे गुरु होते हैं—अलौकिक। वे भीतर का अज्ञान दूर करते हैं, अंतर्दृष्टि को जगाते हैं। वे जीवन-कला के मर्मज्ञ होते हैं। जीवन के सर्वांगीण विकास के द्वार खोलते हैं। वे गुरुकुल या स्कूल की परीक्षा ही नहीं, जीवन की परीक्षा पास करवाते हैं। उनमें शिष्य की क्षमताओं का आकलन करने की तथा उनके सम्यक् नियोजन की अद्‌भुत क्षमता होती है।

जीवन-यात्रा में दोनों ही प्रकार के गुरुओं की अपनी विशिष्ट भूमिका, उपयोगिता और अपेक्षा होती है। एक आजीविका की कला सिखाते हैं और दूसरे जीवन की कला का प्रशिक्षण देते हैं। फिर भी मनीषियों की दृष्टि में शास्त्रीय या पुस्तकीय ज्ञान देने वाले शिक्षक की अपेक्षा चक्षु-प्रदाता गुरु की महिमा कहीं अधिक है। वे अध्यात्म-गुरु कहलाते हैं। वे ऊर्जा के पुंज होते हैं। शक्तिशाली चुंबक की तरह होते हैं, उनकी परिधि में रहने वालों के बाहर-भीतर आध्यात्मिक शक्ति की तरंगें तीव्रता से बहने लगती हैं।

अर्हता गुरुता की

गुरु का चुनाव सोच-समझकर करना चाहिए। क्योंकि अच्छे गुरु ही सही रास्ता बता सकते हैं। घटिया गुरु भटका देता है। प्रश्न है—अच्छे गुरु की पहचान क्या है? भगवान महावीर ने कहा—**सु साहुणो गुरुणो**—श्रेष्ठ साधु गुरु होते हैं। **पंच महाव्रतधरः सुसाधुर्गुरुः**—जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पांच महाव्रतों के धारक और पालक होते हैं, वे ही सच्चे साधु होते हैं और वे ही गुरु-पद के अधिकारी होते हैं। साधु वह होता है जो अपना और पराया—दोनों का हित-संपादन करता है। **साध्नोति स्व-पर-हितं इति साधुः**—ऐसे साधु-पुरुषों द्वारा ही मानव-जीवन का सम्यक् निर्माण संभव है।

योगशास्त्रकार, आचार्य हेमचंद्र ने गुरु को समग्रता से परिभाषित करते हुए लिखा है—

महाव्रतधराधीरा भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवः स्मृताः।।

जो पांच महाव्रतों का पालन करते हैं, धृति-नियंत्रण की शक्ति से संपन्न होते हैं, भिक्षा से जीवनयापन करते हैं और धार्मिक पथ-दर्शन करते हैं—वे गुरु होते हैं। इसके विपरीत पदार्थाभिलाषी, सर्वभक्षी, संग्रही, भोगी और मिथ्या उपदेश देने वाले—गुरु-पद के सर्वथा अयोग्य होते हैं।

वैसे कोई भी त्यागी, संन्यासी, सद्‌गुणी गुरु बन सकता है, किंतु व्यवहार या परंपरा से गुरु वह होता है जो अनेक साधकों को मार्ग-दर्शन देता है, आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करता है। लोक-नायक या धर्म-नायक होता है। जैन परंपरा में वह आचार्य या धर्माचार्य के रूप में अभिनंदित-वंदित होता है।

गुरु-पद की अर्हता उसे प्राप्त होती है—जो तत्त्व-विज्ञानी, त्रिकालदर्शी, मेधावी, प्रत्युत्पन्नमति, जितेंद्रिय और नियंत्रण की शक्ति से संपन्न हो। गुरु के लिए ज्ञानी, त्यागी, संयमी, संकल्पी, सहिष्णु, सदाशयी, पराक्रमी, शक्ति-संपन्न, ओजस्वी और अनुग्रही होना भी अति आवश्यक है। यही गुरुत्व है। गुरुत्व ही आकर्षण का केंद्र होता है।

अनुशासन की आंच में जीवन की धातु सिद्ध होती है

गुरु-शिष्य संबंधों की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानंद लिखते हैं—आध्यात्मिक शक्ति का संचार शुद्ध प्रेम से ही संभव है। प्रेम, भक्ति और अनुराग द्वारा गुरु-शिष्य के बीच तादात्म्य स्थापित होता है। गुरु ज्ञान के सागर होते हैं। सत्पात्र-सुशिष्य को देखकर वह ज्ञान छलकता है, उभरता है। ज्ञान का दान त्यागी पुरुषों द्वारा होता है तो वह शतगुणित होकर निखरता है। ज्ञान-दान द्वारा गुरु, शिष्य का निर्माण करते हैं, सही पथ-दर्शन करते हैं। अतः गुरु अनंत उपकारी होते हैं। उनका स्थान अनुपमेय है। गुरु न मेरु हैं, न सागर। इन सबकी सीमाएं हैं। गुरु की शक्ति, क्षमता और

उपकार असीम हैं। वह इसलिए कि—

सद्‌गुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार,
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार।।

गुरु अनंत-अनंत लोगों के अंतश्चक्षुओं का उद्घाटन कर अनंत सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। जीवन-निर्माण और प्रशिक्षण की प्रक्रिया उनकी विचित्र हो सकती है। कहते हैं—गुरु माली के समान होता है। शिष्य पौधे की तरह होते हैं। किस पौधे को कब, कितनी मात्रा में ख़ाद-पानी देना है? अनावश्यक टहनियों की कब कितनी काट-छांट करनी है? आस-पास के घास और खरपतवार की कब कटाई करना है—यह सब माली को ज्ञात होता है। वह यह सब-कुछ बहुत ही सहजता एवं दक्षता के साथ संपादित करता है। वैसे ही गुरु भी भली-भांति जानते हैं कि किस शिष्य को कितना ज्ञान देना है और कितना वात्सल्य-रस का सिंचन? कैसे उसके दोषों का परिष्कार करना है और कैसे गुणों का समावेश? इस प्रक्रिया में वह कोमल और कठोर—दोनों ही प्रकार की अनुशासन-पद्धतियों का उपयोग करता है।

गुरु कुंभार शिष्य कुंभ है, घड़घड़ काढ़े खोट।
अंतर हाथ सहार दे, बाहर-बाहर चोट।।

गुरु की चोट भी अपूर्व सौंदर्य प्रदान करती है। अनुशासन की आंच में जीवन की धातु सिद्ध होती है। शिष्य वीणा के समान होता है और गुरु कुशल वादक। वह टूटी-फूटी वीणा के कल-पुर्जे बदलकर उसका कायाकल्प कर देता है। उसमें अलौकिक संगीत भर देता है।

गुरु व्यक्ति नहीं, आत्म-दर्शन और चैतन्य जागरण का महायात्री होता है। वह एक प्रेरक तत्त्व है, एक महिमा है, एक रोशनी है, एक प्रताप है, एक प्रकाश है, एक चमत्कार है। सद्‌गुरु का होना और मिलना जगत की एक अद्वितीय घटना है। वैसे फूल रोज-रोज नहीं खिलते। सदियां बीत जाती हैं, तब कहीं कोई पारदर्शी, पीयूषपाई महाज्ञानी गुरु प्रकट होते हैं।

ऐसे सद्‌गुरु का सामीप्य साध लेने से भ्रम का निवारण होता है। भव-भ्रमण मिटता है। उनकी आत्म-विद्या के आलोक में अविद्या के बादल छंट जाते हैं, पर्दा हट जाता है और शिष्य की अंतश्चेतना में दिव्य ज्ञान-ज्योति प्रकट हो जाती है। सूरज का सामीप्य साध लेने पर अंधकार का अस्तित्व कहां बचता है!

भरम निवारे चित्त का, दूर करे संदेह।
रंगत प्रेम चढ़ाय दे, ऐसा गुरु करि लेह।।

संगीत सुनना एक बात है और संगीतज्ञ बनना दूसरी बात। संगीतज्ञ बनने के लिए कुशल प्रशिक्षक के पास रहकर अभ्यास करना होता है। उसके स्वर से स्वर और ताल से ताल मिलाकर सीखना होता है। वैसे ही हृदय का संगीत सुनने के लिए, भीतर का प्रकाश पाने के लिए, परम-पद की प्रीति को पुष्ट करने के लिए, सद्‌गुरु का सामीप्य अपेक्षित है। गुरु के समीप रहने और उनकी हर दैनिक गतिविधि को सलक्ष्य, ग्राहक बुद्धि से देखने पर गुरु की समता, निःस्पृहता, निर्भयता, निरहंकारिता आदि सद्‌गुणों की छाप शिष्य के मानस-पटल पर अंकित होती है। धीरे-धीरे उन गुणों को आत्मसात करता हुआ वह अनेक श्रेष्ठताओं को अर्जित कर सकता है। गुरु की निर्मल दृष्टि, परमार्थ-परायणता, अंतर्मौन, आत्मरमण—इन स्वाभाविक गुणों को देखकर, उनसे प्रेरित होकर शिष्य भी पूर्णता की ओर प्रस्थान कर सकता है। यह है गुरु-शिष्य के अद्वैत-भाव की फलश्रुति।

परमात्मा वहां है, जहां कोई सद्‌गुरु है

कहते हैं—सिद्ध पुरुष अनेक हो सकते हैं, उनकी प्राप्ति अपेक्षाकृत सरल है। सद्‌गुरु विरल होते हैं। सिद्ध वह है—जो सत्य को उपलब्ध हो गया; सद्‌गुरु वह है—जो ज्ञान को बांटता है, औरों को भी सत्य का बोध कराता है। सिद्ध एक सीट वाली नाव है। उस पर दूसरा नहीं बैठ सकता। गुरु अनेक सीटों वाली नाव हैं, महायान हैं। उसमें करोड़ों यात्री बैठ सकते हैं और संसार-सागर के उस पार पहुंच सकते हैं। एक सद्‌गुरु अनेकों के लिए द्वार बन सकता है। लेकिन, वह द्वार उसी के लिए खुलता है—जो झुकता है, समर्पित होता है। समर्पण पूर्णिमा है, अहंकार अमावस। परमात्मा को खोजने के लिए कैलास, काशी, काबा, गया या पावा जाने की अपेक्षा नहीं है। परमात्मा वहां है, जहां कोई सद्‌गुरु है। आज संप्रदाय-धर्म बहुतों को ज्ञात है, किंतु परमात्मा का धर्म अज्ञात है। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारा ज्ञात हैं, पर परमात्मा का निवास कहां है? पता नहीं। वह सर्वथा अज्ञात है। जिस क्षण हमारे कदम उस परमात्म-तत्त्व की खोज में आगे बढ़ते हैं, वही क्षण जीवन की सुबह है। रुका हुआ कदम अमावस है, उठा हुआ कदम पूनम है। परमात्मा का रास्ता गुरु ही बता सकते हैं। गुरु के साथ एक कदम भी उठा लें, उनके सहयात्री बन जाएं तो पूर्णिमा घटित हो सकती है।

गुरु प्रवक्ता, लेखक, अध्यापक—इन सबसे ऊपर होता है। जो गहन अंधकार में 'टॉर्च' का काम करे, शिष्य

की अंतश्चेतना को जगाए, वह होता है—महान गुरु। अतः आत्मबोध और कर्तव्यबोध के लिए गुरुतत्त्व की अपरिहार्य अपेक्षा है।

न बिना ज्ञान-विज्ञाने, मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न बिना गुरु-संबंधं, ज्ञानस्याधिगमो भवेत्।।

ज्ञान-विज्ञान के बिना मोक्ष का अधिगम नहीं होता और गुरु से संबंध स्थापित किए बिना ज्ञान का अधिगम नहीं होता। गुरु का मुख्य कार्य है, अंतःस्थित चिदानंद का साक्षात्कार करा दे, अन्यथा वह गुरु, मात्र नाम का ही गुरु है।

अंतःस्थ सच्चिदानंद-साक्षात्कारं सुसाधयेत्।
योऽसा वेव गुरुः प्रोक्तः, परो नामधरः स्मृतः।।

यहां एक बात विशेष ज्ञातव्य है कि गुरु आत्म-साक्षात्कार का तथा जीवन-निर्माण का मार्ग और प्रक्रिया बता सकते हैं, किंतु उस दिशा में गति एवं प्रयत्न तो स्वयं को ही करना पड़ता है। गुरु शिष्य के हाथों में दर्पण थमा सकते हैं। देखने का श्रम तो उसे ही करना होता है।

द्रौपदी का स्वयंवर रचा गया, श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निर्देश दिया—'तुम्हें स्वयंवर में जाना है, राधावेध साधकर द्रौपदी को पाना है।' अर्जुन ने पूछा—'राधावेध क्या है, वह कैसे होता है?' कृष्ण बोले—'घूमती हुई मछली की परछाईं को पानी में देखते हुए, उसकी आंख बींधना है। तैयार हो ना?'—'जब आप साथ में हैं तो मुझे क्या चिंता है?' श्रीकृष्ण ने कहा—'इस भरोसे मत रहना! घूमती हुई मछली को देखना, तीर चलाना और उसकी आंख बींधना—यह सब-कुछ तुम्हें ही करना है।'—'तब आप क्या करेंगे, प्रभो?'—'मैं पानी को निर्मल बनाए रखूंगा, ताकि तुम उसमें मछली को अच्छी तरह देख सको।' ऐसे ही गुरु भी हमारे चेतना के पानी को निर्मल बनाए रखते हैं, ताकि हम मिथ्या धारणाओं से उबर कर, सर्वत्र सम्यक् का सम्मान कर सकें।

प्रभु से प्रीति : गुरु पर श्रद्धा

गुरु की सन्निधि में शिष्य के व्यक्तित्व का समग्र रूपांतरण संभव है। आध्यात्मिक पथ का आधार हैं—श्रद्धा, आस्था। जिसके अंतःकरण में प्रभु और प्रभुता के प्रति प्रीतिभाव का उदय हो जाता है, उसकी प्राप्ति के लिए पथ-दर्शक गुरु का सहयोग अपेक्षित है। गुरु-चरणों में आस्था, विश्वास और समर्पण—यही है अपूर्णता से पूर्णता को प्राप्त करने का उत्तम उपाय।

यह वैज्ञानिक युग है। मानव-मस्तिष्क में तार्किक शक्ति का विकास हुआ है। अतः श्रद्धा का अवमूल्यन हो रहा है। गुरु-शिष्य की महान परंपरा और पवित्रता लुप्त हो रही है। लोग बिंदु जितना ज्ञान प्राप्त कर स्वयं को सिंधु समझने लगते हैं। शिक्षितों की सोच में भारी बदलाव आ रहा है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित-अहित स्वयं जानता है। हित, सुख, समृद्धि और प्रगति के लिए प्रयत्न स्वयं उसी को करना है, फिर बीच में किसी गुरु की क्या आवश्यकता है! यहीं से श्रद्धा-विश्वास का अवटूटन, बिखराव शुरू हो जाता है। श्रद्धा के बिखराव का अर्थ है—गुरु की अर्हता और उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न। कंप्यूटर और इंटरनेट भी गुरुतत्त्व की उपेक्षा में अहं भूमिका निभा रहे हैं। किंतु, यह भी निश्चित है कि मानवीय विकास के अप्रतिम प्रतीक हो सकते हुए भी कंप्यूटर और इंटरनेट कभी भी गुरु का स्थान प्राप्त नहीं कर सकते। गुरु जीवन-ऊर्जा से भरपूर होते हैं। वे आलोक-धर्मी और सृजनशिल्पी होते हैं। वे स्वयं ज्ञान के आलोक से आलोकित होते हैं। शिष्य को आलोक प्रदान करते हैं और आलोक-ग्रहण की क्षमता भी जगाते हैं। विकास के लिए वे शिष्य को स्थिर और संकल्पवान बनाते हैं। इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति से निर्माण संभव है। गुरु का ज्ञान और शिष्य का कर्म—दोनों मिलकर जीवन को समग्रता प्रदान करते हैं। लक्ष्य-सिद्धि के लिए भी चाहिए गुरु की कृपा तथा शिष्य का पुरुषार्थ व विनय-समर्पण।

वैसे सद्गुरु तो बादल हैं—आषाढ़ के मेघ। उनकी कृपा, आशिष निरंतर बरसती रहती है, कभी मीठी फुहार में तो कभी तेज बौछार में। जो सीपी बन जाती है—गुरु-शिक्षा के स्वाति-कण उसमें गिरकर मोती बन जाते हैं। उसकी जीवन-जोत जगमगा उठती है। बंद कली बनकर रहने वाला कभी तृप्त नहीं होता। खुलना और खिलना ही परितृप्ति है, कृतार्थता है, जीवन की सार्थकता है।

गुरु का स्नेह और वात्सल्य भी किसी स्वार्थवश नहीं बरसता। वह भी साधनात्मक होता है। जैसे सूरज आठ माह तपता है, जल का शोषण करता है और फिर धरती को आप्लावित करता है—वैसे ही गुरु, तप-त्याग की प्रेरणा देते हैं, अनुशासन की आंच में तपाते हैं और फिर चैतसिक प्रसाद हेतु अनुग्रह बरसाते हैं। अपेक्षा है संपूर्ण समर्पण-भाव की, पूरे व्यक्तित्व के उत्सर्जन की।

गुरु की पहली पसंद है—जिज्ञासु शिष्य। अच्छे गुरु

प्यास नहीं बुझाते। वे प्यास जगाते हैं। जिज्ञासु बनाते हैं। अतः गुरु का सम्मान करें। ज्ञान की इच्छा जाग्रत करें। अपने अस्तित्व को गुरु के विराट व्यक्तित्व में लीन कर दें। क्योंकि—

• अनुशासन के लिए • व्यवस्था के लिए • मार्ग-दर्शन के लिए • उद्‌बोधन के लिए • ज्ञान-संवर्धन के लिए • भगवान के प्रतिनिधि के रूप में • दिशा-दर्शन व अंतर्दर्शन के लिए • संस्कार-निर्माण के लिए • वृत्ति-परिष्कार के लिए • आध्यात्मिक विकास के लिए • तपस्या और साधना के लिए • बंधन-मुक्ति और दुख-मुक्ति के लिए गुरु की पावन सन्निधि की उपयोगिता है, वह अतीव-अतीव अपेक्षित है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नंहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

स्मृतिजीव्या

श्रीनरेश मेहता

उनके उस वृद्धमुख में मुस्कराहट जिस प्रकार तथा जिस मात्रा में घुली-मिली थी, वैसी मैंने किसी में नहीं देखी। अनेक सुंदर, असुंदर, युवा, बच्चे—न जाने कितने मुखों को देखा होगा, पर ऐसा पूजामुख नहीं देखा, जिसमें वनस्पतियों की-सी ताजगी, उन्मुक्तता तथा दिव्यता भी हो। ऐसा मुख तभी संभव है, जब व्यक्ति पूर्ण रूप से वृक्षों की भांति ही धरती से बंधे होने पर भी अपनी गति में ऊर्ध्वता रखता हो।

दो अंकों में समाप्य कहानी

□

पहली कड़ी

अन्य दिनों की अपेक्षा उस दिन सवेरे ही से धूप नहीं थी। कहना चाहिए कि उस दिन का दिनारंभ ही धुंध और कुहरे से हुआ था। लंबे, पतले बादल पेड़ों की फुनगियों तथा उनके बीच से तैरते-रेंगते किस प्रकार सवेरे ही से भरने लगे थे—यह हमने खिड़कियों के बंद पल्लों से ही देख लिया था। शीशों के पल्लों पर बूंदें जम गई थीं। पहाड़ी जाड़ों का आरंभ इसी तरह होता है। नवंबर और दिसंबर के महीने वैसे भी पहाड़ों में सुखद नहीं होते। तेज ठंडी हवा, गहन वर्षा तथा उपरले पहाड़ों पर बर्फ गिरने के कारण वहां का सामान्य जीवन लगभग निर्जनवत् हो जाता है। एक प्रकार से हर चीज कटावदार ठंडेपन के साथ-साथ चिपचिपा उठती है। इन दिनों की धूप तक मुंह की भाप से अधिक गरम नहीं होती।

मेरे एक घनिष्ठ मित्र उपाध्याय, भवाली के राजकीय चिकित्सालय में डाक्टर हैं। अनेक बार वह बुला चुके थे, अतः मौसम न होने पर भी मैं भवाली पहुंचा। डाक्टर अभी तक अविवाहित थे। उनका निर्द्वंद्व जीवन, सुखद छोटी-सी कॉटेज तथा पर्वतीय उन्मुक्त वातावरण देखकर डाक्टर से ईर्ष्या हुई। कहां दिल्ली का निरर्थक व्यस्त जीवन और कहां भवाली की इतनी एकांत विपुलता। क्या वैषम्य था कि डाक्टर यहां की विपुलता से ऊब चुके थे! डाक्टर का अधिकांश समय अस्पताल तथा रोगियों के बीच ही बीतता था। शाम के समय कभी-कभी भवाली सेनीटोरियम के डाक्टरों के साथ गपशप करते, कुछ खेलते या कोई 'इन-डोर गेम' खेलते कट जाता था। लेकिन, कई बार सेनीटोरियम तक जाना भी अखर जाता रहा होगा, अतः जब मुझे डाक्टर ने अनायास देखा तो गहरी प्रसन्नता हुई।

भवाली पहुंचने के तीन-चार दिन बाद तक भी मौसम इतना सुहाना रहा कि लगा ही नहीं कि यहां आने के लिए यह समय अनुपयुक्त था। वैसे भी भवाली कोई इतनी ऊंचाई पर नहीं कि यहां बर्फीले मौसम का भय हो। उन तीन-चार दिनों के

आरंभ में जिस प्रकार की प्रशस्त धूप, निरभ्र आकाश तथा प्रसन्न, धुली विस्तृत दृश्य-परिधि थी, उसे देखकर सारे पहाड़ियों से ईर्ष्या हुई कि ये लोग प्रकृति की किस श्रेष्ठता को भोगते हैं!

डाक्टर की कॉटेज का बरामदा दक्षिण की ओर था, जहां से दूरी पर किसी 'चैपल' की नुकीली मीनार तथा उसका क्रास एवं उसके पास की कॉटेज, अपनी पूरी चित्रात्मकता के साथ दिखते थे। पश्चिम की ओर नीचे, अल्मोड़ा-रानीखेत जाने वाली मोटरों का हल्का-सा शोर डूबा-डूबा सुनाई पड़ता था। उत्तर की ओर मध्यम ऊंचाई की पहाड़ी का सिलसिला परिधि लेता पश्चिम में पहुंचकर काफी ऊंचा हो गया था। भवाली की अधिकांश बस्ती इसी ओर थी। मकानों के छज्जे और छतें दृश्य को किंचित् कुरूप ही करते थे। हां, सवेरे-शाम जब घरों का धुआं उठता तो वह पेड़ों के हरेपन को जो नीलाहट देता, उससे परिवेश को मर्म मिल जाता। उत्तर की ओर से ही पहाड़ों को लांघती तेज ठंडी हवा दिन से अधिक रात में चला करती। चीड़ और ओक के प्रलंब तथा धैर्यवान वृक्ष जब रात में सरसराते होते तब लगता कि सचमुच हिमालय का क्षेत्र देवभूमि है, जहां कुछ अविश्वसनीय घटित हो रहा है। जिन दिनों बादल नीचे उतर कर कमरों में घुस आते, उन दिनों सारा दृश्य ही नहीं, बल्कि कमरों की चीजें तक भीग कर चिपचिपाने लगतीं, लगता कि जैसे बादल हर चीज सूंघते फिर रहे हैं।

सवेरे का चाय-नाश्ता समाप्त कर डाक्टर तो अस्पताल चले जाते और तब बरामदे में बैठकर केवल निरीक्षण करने के अतिरिक्त मेरे पास कोई काम नहीं रहता। इस प्रकार का खाली समय या तो मैं पुस्तकों में काट दूं या फिर कहीं घूमने निकल जाऊं, पर मैं प्रायः विवश हो जाने पर ही पुस्तकों पर निर्भर करने वालों में से हूं, अन्यथा खूब खुले में निकल जाना अथवा खिड़की या बरामदे से मात्र देखते रहना ही मुझे अधिक सार्थक एवं प्रिय है। वैसे रात में या आंधी-पानी वाले दिनों में कंबल ओढ़कर क्लासिक पढ़ना बहुत अच्छा लगता है। अतः जब डाक्टर चले जाते तो मैं भी तैयार होकर घूमने के लिए निकल पड़ता।

भवाली-जैसी छोटी जगहों की एक कठिनाई सभी ने प्रायः अनुभव की होगी कि घूमने-फिरने या जीवन की अधिक विविधता नहीं हुआ करती। लम्बी चली गई एकमात्र सड़क पर निकल जाइए। ऊंचे पेड़ों से आबद्ध पतली-सी पहाड़ी सड़क, छोटी-मोटी पुलियाएं, इक्के-दुक्के आते-जाते लोग तथा नालों का बहता पानी—यही तो होता है। कहीं किसी मोड़ के आ जाने से अवश्य ही दृश्य थोड़ा निखर आता है, खुल आता है। सिर पर जो क्षितिज आ गया था, वह खिसक कर दूर चला गया होता है, पर दो-चार दिन के बाद वही की वही एकरसता आ ही जाती है। वैसे अपने इस प्रकार के निर्णय से मैं स्वयं ही बहुत अधिक सहमत नहीं हो सकता, लेकिन उन दिनों कुछ-कुछ ऐसा ही लगता था। संभवतः इसका कारण पतझर था। वनों में झरते पत्तों की ऐसी मंद आहट रहती जो मुझे अमानवीय लगती। झरे पत्तों के कारण पेड़ों की उदासी मुझे अपनी लगने लगती। झरते पत्ते मुझे सदा वैराग्य का बोध कराते हैं। कितने असंपृक्त भाव से झरते होते हैं चारों ओर, और आप कोई प्रतिकार नहीं कर सकते, केवल देखने के लिए विवश होते हैं।

ऐसा ही पतझर का मौसम था, जब मैं भवाली पहुंचा था। चूंकि आरंभ के दिनों में धूप और दृश्य का खुलापन था, इसलिए उस प्रकार पतझर की ओर ध्यान नहीं गया जैसा कि बाद के दिनों में गया। खुले मौसम वाले उन आरंभिक दिनों में तो मैं और डाक्टर सेनीटोरियम से रात आठ-नौ के बाद ही पैदल लौटते थे। खेलकूद, पिंगपांग या बैडमिंटन इतना खेले हुए रहते कि थक जाना चाहिए होता, लेकिन रास्ते में जिस प्रकार अकलंक चांदनी, बिल्लौरी तारे तथा स्वच्छ आकाश मिलते, उनके कारण गहरी प्रसन्नता होती। पहाड़ी सर्पिल मार्ग पर फैला सुंता-सन्नाटा चांदनी के कारण चितकबरे हुए पत्तों पर अवधूती एकांतता में फैला हुआ मिलता। कहीं से कोई पहाड़ी लोकगीत हवा में कैसा थरथराता होता। ऐसी विजनी निर्जनता आपके स्वत्व को वापस ठेलकर आप तक लौटा देती है। लेकिन, जब मौसम बदला तो हम लोगों का शाम का बाहर निकलना लगभग बंद हो गया। डाक्टर के लौटने तक अंधेरा और भी सघन हो जाता और तब शाम की चाय पीकर टेबल के दोनों ओर बैठे हुए लैंप की पीली रोशनी में केवल चर्चा करने के अलावा हमारे सामने कुछ नहीं होता। इस प्रकार के अवकाशों में आदमी प्रायः अतीत की ही चर्चा करता है। अतीत में न जाने कैसी मंत्र-मुग्धता होती है कि वह बारंबार घूम-घूम कर याद आता है। ऐसे स्मरण के लिए आवश्यक नहीं कि सुख-सुविधा वाला अतीत ही हो। अतीत, अतीत ही होता है। कैसा ही तब का जीवन रहा हो, बीत जाने पर वह सुदूर का चमकता नीला शुक्र हो जाता है। अंग्रेजी की कहानी वाला 'इवनिंग स्टार!!' सांध्य तारा!!

मैंने देखा कि यहां आने पर डाक्टर अपने नैसर्गिक जीवन-प्रवाह से जैसे कट गया है। अतः या तो वह काम से घिरा रहता है, या अवकाश मिलते ही उसे अतीत घेर लेता है। चर्चा चलते ही वह कॉलेज के दिनों के बारे में, हॉस्टल के बारे में, न जाने क्या-क्या सुनाने लगता है। काफी बातें वह पहले भी सुना चुका है, पर इस बार जिस ढंग से वह सुनाता होता, उससे लगता कि वह अनेक दिनों से बातें करने के लिए तरस गया है। मैं उसके लिए रेगिस्तान में हठात् मिले छोटे-से जलाशय की भांति हो गया था। इस प्रकार के स्मृतिजीवी लोगों में इस बात का किंचित् भी विवेक नहीं होता कि सामने वाला कितना-कुछ सुनना चाहता है। वस्तुतः ऐसे लोग किसी को सुनाते थोड़े ही हैं! उस समय तो केवल वह और उनका अतीत होता है। वैसे, इस प्रकार अतीत को दुहराना या याद करना भी कितना रोमांचक तथा जादूभरा होता है! अतीत से बढ़कर रंगीन लालच और कुछ नहीं होता। लेकिन, यह तो शाम को होता या रात को खाना खाने के बाद खिड़कियों से मंद चांदनी के आलोक में होता। सवेरे चाय पीकर डाक्टर के चले जाने के बाद मैं जिस प्रकार पीछे छूट गया रहता, उसमें चाय की केतली और खाने की मेज के लंबेपन के अतिरिक्त और कुछ न होता।

इसी प्रकार रिक्तता में मैं एक सवेरे बैठा हुआ था कि मेरा ध्यान सहसा चैपल की ओर गया। वैसे सात बज चुके थे। मौसम खुला होता तो इस समय तक धूप खूब खिली होती, पर आज धूप नहीं थी। बल्कि कहना चाहिए कि धुंध जितनी सवेरे थी, उतनी डाक्टर के जाने के बाद नहीं रह गई थी। फिर भी धुंध सघन न होते हुए भी अच्छी-खासी थी। चैपल, कॉटेज तथा आस-पास के सारे पेड़ धुंध में लिपटे थे। मैं नहीं कह सकता कि आज के पूर्व मैंने उस चैपल को कभी खुलते या बंद होते देखा, लेकिन इस समय एक महिला पीठ किए चैपल का एकमात्र बड़ा-सा गोल दरवाजा बंद करती खड़ी थी। उन्होंने टखनों तक का लंबा-सा, शायद ऊनी गाउन पहन रखा था, जिसके बड़े-बड़े फूल यहां से धब्बे-जैसे लग रहे थे। महिला ने जिस ढंग से सिर पर रूमाल बांध रखा था तथा हाथ में छड़ी ले रखी थी, उसके कारण वह विशिष्ट लग रही थी। दरवाजा बंद कर जब उन्होंने मुंह सामने किया तो उनकी हल्की आकृति दिखाई दी। वह निश्चित ही वृद्धा थीं। उनकी त्वचा का रंग, इतनी दूर से देखने पर भी जमे हुए सफेद रंग की तरह लग रहा था। उनके बर्फ-जैसे सफेद तथा ठंडे बालों पर रूमाल का पीलापन उस धुंध में कितना निरीह लग रहा था! तन कर खड़े होने के खयाल से वह छड़ी पर जोर देकर खड़ी थीं। जिस ढंग से वह आकाश ताक रही थीं, उससे स्पष्ट था कि वह मौसम को परख रही थीं। चैपल के सामने जो खुला मैदान था उसमें झरी पत्तियों का ढेर लगा था। एक छोटी-सी पगडंडी थोड़ी दूर के बाद विभाजित हो जाती थी। अपनी दाहिनी ओर जाकर वह पगडंडी चढ़ाई चढ़ते हुए कॉटेज तक पहुंच जाती थी, जबकि बाएं हाथ घूम कर वह पगडंडी चीड़ों के बीच से होती हुई कोने में बनी एक कब्र के पास जाकर समाप्त हो जाती थी।

रंगत या आकार-प्रकार से वह निश्चित ही यूरोपियन थीं, लेकिन भवाली-जैसी छोटी तथा 'आउट आफ द प्लेस' में एक यूरोपियन महिला को ऐसी निरीहावस्था में देखकर किसी को भी कौतूहल हो सकता था। महिला एक हाथ में छड़ी तथा दूसरे में बेंत की एक टोकरी लिए हुए थी। बाएं हाथ की पगडंडी से होती हुई वह कब्र पर गईं। टोकरी से उन्होंने वैसी ही झाड़न निकाली, जैसी कि जैन मुनियों के पास हुआ करती है। इतनी दूर से भी स्पष्ट था कि वह कितने धैर्यपूर्ण ढंग से कब्र को झाड़ रही थीं, जैसे कि किसी जीवित व्यक्ति पर से पत्तियां हटा रही हों। बरामदे से मैं तय नहीं कर सका कि कब्र किस ढंग की है, पर कब्र के सिरहाने की ओर का पंखों वाला देवशिशु स्पष्ट दीख रहा था। अतः कब्र निश्चय ही पक्की रही होगी, जिस पर कुछ इसी प्रकार का वाक्य खुदा हुआ होगा कि—'यहां वह पवित्र व्यक्ति सो रहा है, जिसे भौतिक जगत् कम जानता हो, लेकिन प्रभु का जो प्रिय पात्र है।'—मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने कब फूलों का एक छोटा-सा स्तबक निकाला और कब्र पर रख दिया। भीगे दिन की धुंध के बावजूद फूलों के रंग ताजे तथा स्पष्ट थे। उस परिवेश, झरती पत्तियों तथा एकांत कब्र के निकट उन्हें खड़ा देखकर मुझे न जाने कैसी उलझन होने लगी, जैसे मैं ही स्तबक हूं, जिसे कब्र पर चढ़ा दिया गया है। जब तक वह अपने कॉटेज में नहीं चली गईं, तब तक मैं उन्हें एकटक देखता रहा। उस दिन पहली बार मैंने ध्यान दिया कि उस कॉटेज की खिड़कियों तथा दरवाजों के सभी परदे सफेद हैं। इस ध्यान देने पर ही खयाल आया कि उन सफेद परदों को तो पहले ही देख चुका था, पर तब न जाने क्यों याद नहीं रहे थे, जबकि इस बार देखने पर ऐसा लगा कि अब आजीवन नहीं भूल सकूंगा।

दोपहर को खाना खाते समय मैंने डाक्टर से उक्त महिला के बारे में अतिरिक्त जानकारी के लिए जब पूछा,

तब वह किसी मरीज की दशा को लेकर शायद चिंतित थे, अतः मात्र इतना ही बता सके कि श्रीमती डेविस न केवल एक धनी महिला ही हैं, बल्कि वह डाक्टर के प्रति अत्यंत कृपालु भी हैं। इनके पति, जिनकी कि तीन-चार वर्ष पूर्व ही मृत्यु हुई है, पहाड़ी क्षेत्र में रहने के लिए आए थे। डाक्टर ने दो-एक दिन में मुझे परिचित करा देने का आश्वासन दिया तथा यह भी कि मैं उनमें एक अच्छा तथा सदाशयी मित्र पाऊंगा। डाक्टर को पास के किसी गांव में लिवा ले जाने के लिए कुछ देहाती आए थे और वह उनके साथ चले गए। डाक्टर के जाने के समय धुंध लगभग नहीं थी, पर मेघाछन्नता अवश्य थी। वृष्टि की संभावना बनी हुई थी। डाक्टर के जाने के बाद मेरे पास कोई काम नहीं था। काफी देर तक गोगोल की 'इवनिंग्स नीयर द विलेज डिकान्का' पढ़ता रहा। कमरे में जलती अंगीठी की गर्मी अत्यंत सुखद लग रही थी। इस बीच बादल फिर नीचे आ गए थे। वृष्टि अब कुछ क्षणों की ही बात लग रही थी। जब बादल ऐसे सघन घिरे हों तब भला शाम का होना कैसे मालूम हो सकता था? कमरे की खिड़की से भीगी तेज हवा से कमरा ठंडा हो रहा था। और कोई दिन होता तो मैं उसे अवश्य ही बंद करवा देता, पर इसी खिड़की से श्रीमती डेविस के एक कमरे की दो खिड़कियां दिखती थीं। आधे सफेद परदों के कारण यह मालूम होना तो कठिन था कि वह किस प्रकार का कमरा है तथा उसमें इस समय कोई है भी कि नहीं, पर थोड़ी ही देर में वहां हल्का पीला प्रकाश दिखने लगा। निश्चय ही वह किसी बड़े लैंप का प्रकाश था। किताब छोड़कर मैं फिर श्रीमती डेविस के बारे में सोचने लगा। दो-एक पहाड़ी नौकरों के अलावा उनकी कॉटेज में किसी अन्य के होने की संभावना मुझे नहीं लगी। मुझे उनकी इस निरीहता पर काफी बेचैनी होने लगी। मेरे इस प्रकार बेचैन होने की सार्थकता क्या हो सकती थी, नहीं कह सकता, पर मुझे असुविधा थी। मैंने इस समस्या से विमुख होने की पूरी चेष्टा की, पर समस्या और अधिक मरीचिका रचती सामने आ खड़ी होती। नौकर चाय ले आया था। बादलों-भरे वातावरण में चाय की भाप को देखते रहना तथा कप की गरमी को हथेलियों के बीच अनुभव करना कितना सुखद होता है। सहसा मुझे लगा कि यदि मैं इस समय अयाचित ही श्रीमती डेविस के सामने पहुंच जाऊं तो उन्हें कैसा लगेगा? पता नहीं, मेरे इस प्रकार से पहुंचने का न जाने वह क्या प्रयोजन समझें! लेकिन, जब उन्हें बताया जाएगा कि मैं डॉक्टर का एक बंधु हूं, तो वह एक अच्छे पड़ोसी की भांति अवश्य ही सम्यक् व्यवहार करेंगी। और, मैं बिना कुछ और, सोचे केवल गाउन अतिरिक्त रूप से डालकर उनकी कॉटेज के लिए निकल पड़ा।

डाक्टर तथा श्रीमती डेविस की कॉटेजों में मुश्किल से सौ गज का फासला होगा। अंतर केवल यह था कि डाक्टर के अहाते की दीवार जगह-जगह से टूटी-फूटी थी तथा पूरा अहाता उपेक्षित कहा जा सकता था, जबकि डेविस की कॉटेज, अहाता, अहाते की दीवार ही नोकपलक से दुरुस्त न थे, बल्कि फाटक के खंभे पर संगमरमर में खुदा कॉटेज का नाम 'व्हाइट ओक्स' तक धुले-पुंछेपन का आभास दे रहा था। अहाते का फाटक जब मैं खोल रहा था, तब वहां के मुर्गे-मुर्गियां पत्तियों को पंजों से पीछे ठेलकर दानों और कीड़ों की खोज में पूरे मैदान में फैले हुए थे। फाटक बंद कर जब मैं घूमा तो मैंने श्रीमती डेविस को बरामदे में बेंत की एक आरामकुर्सी पर सिर टिकाए बैठे देखा। एक कंबल से उनके घुटने तथा पैर ढंके हुए थे। सिर तथा कंधों पर वह मुलायम ऊन की हल्की गुलाबी शाल ओढ़े हुए चित्र का विषय लग रही थी। पास की तिपाई पर दो-एक किताबें, एक माला तथा एक लैंप थे। मेरा कॉटेज की ओर बढ़ना वह ध्यान से देख रही थीं। संभवतः वह मुझमें किसी परिचित को चीन्हने की चेष्टा कर रही थीं। लेकिन मैं जब पास पहुंच गया तो उन्हें स्पष्ट ही लगा कि यह कोई परिचित नहीं है। वह उठने की चेष्टा करने लगीं। उन्हें ऐसा करते देख, मुझे लगा कि यदि मैं समय से उन्हें ऐसा करने से नहीं बरजता तो जैसे कोई प्राचीन पवित्र वृक्ष अपनी जड़ समेत उखड़ जाएगा। मैं ऐसा नहीं कर सकता था, बल्कि कहना चाहिए कि ऐसा करने का मुझे कोई अधिकार नहीं था। अब उनके और मेरे बीच बस, दो-तीन गज का ही फासला रह गया था। अंतिम सीढ़ी पर खड़े होकर, हाथ जोड़कर मैंने कहा,

—'गुड इवनिंग, मिसेज डेविस!'

प्रत्युत्तर में उन्होंने भी अभिवादन किया, पर स्पष्ट था कि वह आगंतुक से अनभिज्ञ थीं। उनके सफेद मुख पर दो नीली आंखें मुझे देख रही थीं। उनमें एक ऐसी जिज्ञासा थी जो किसी फूल में ही संभव हुआ करती है। बरामदे में चढ़ते हुए मैंने कहा,

—आप डाक्टर उपाध्याय से तो परिचित हैं....मैं उनका....

शेष पृष्ठ 58 पर

सरोजकुमार की कविताएं

कपड़े

मन पर जमी कलुष, काई
क्या कपड़े उतार देने के
साथ-साथ उतर जाती है प्रभु?
वह किसी को नहीं दिखती
और तो और
स्वयं को भी नहीं!
बोध की पकड़ से दूर
मन के
सघन प्रांतरों में छिपी हुई!

उससे मुक्ति का उपाय
अगर संयम है
तो संयमों की धुरी भी तो शरीर है
शरीर कितना ही
निकृष्ट, व्यर्थ
और क्षणभंगुर हो
पाप-पुण्य की प्रयोगशाला
तो वही है!

कपड़े उतार दूंगा
तो इतना तय है
सब मुझ क्षुद्र को
महान मानने लगेंगे
पर मैं तो
पहचानता हूं स्वयं को!

मैं दोनों छोरों पर
घाटे में रहूंगा,
भीतर की काई
छूटेगी नहीं,
और बाहर के
वस्त्र भी छिन जाएंगे!

अभिलाषा

प्रभु
तुम्हें प्रणाम करते हुए
क्या मैं अपने ही सपनों को प्रणाम नहीं करता?

तुम तो शाश्वत हो
पर क्या मैं अनंत काल
मात्र भक्त बना रहने को अभिशप्त हूं?
तुम निश्चित ही शाश्वत हो
पर क्या मेरी नियति भी शाश्वत है
जैसा हूं वैसा ही बने रहने की?

तुम मानो या न मानो प्रभु,
तुम्हें प्रणाम करते हुए
मैं वहां नहीं रह जाता
जहां प्रणाम के पहले था!
मेरे प्रणाम
तुम्हारी-मेरी दूरियां कम करते चलते हैं!
और तुम देखना
मैं एक दिन
अपने प्रणामों की ताकत से
तुम्हारे-मेरे फासले कम करते-करते
ठीक तुम्हारे निकट आकर खड़ा हो जाऊंगा!

बताओ, तब भी क्या मुझे
हमेशा की तरह
केवल आशीर्वाद ही दोगे
या गले भी लगा लोगे?

❖❖

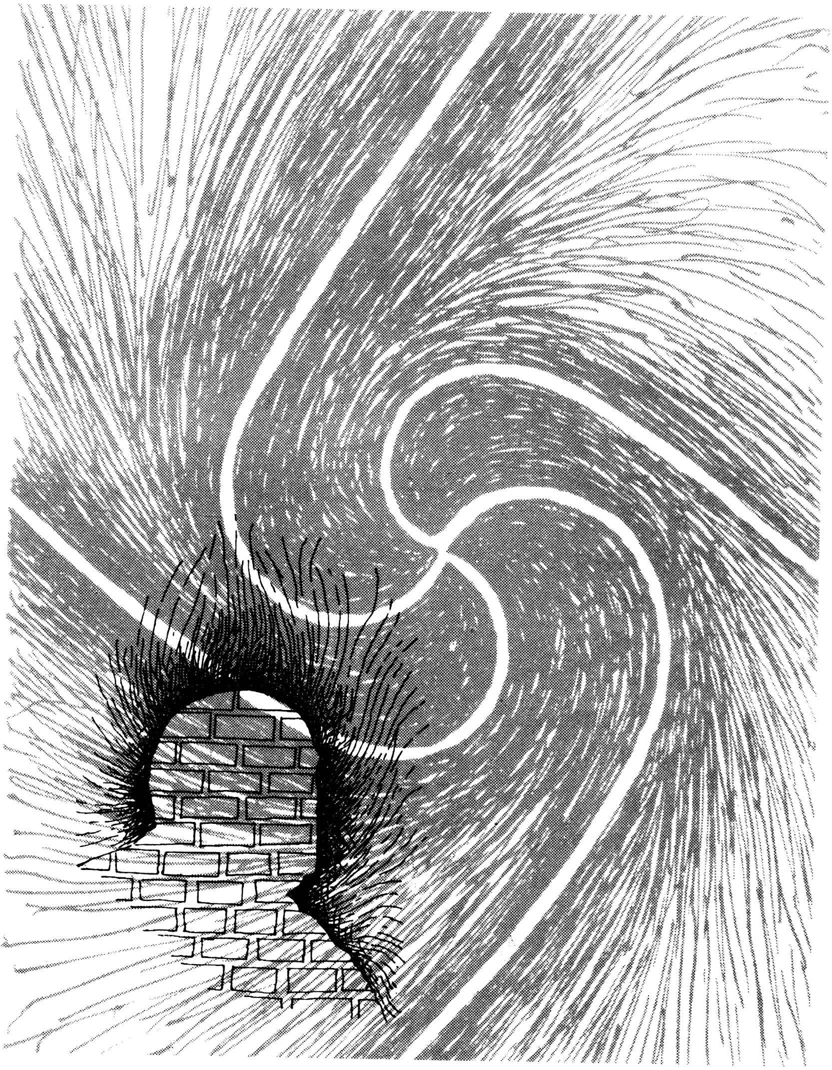

शीलन

अगर कर्म को यों किसी अंतरंग बोध से और विमर्श से जोड़ें तो प्रश्न होगा कि कर्म का बाह्य रूप उसके आन्तर रूप से कैसे संबद्ध है? यों तो यह प्रश्न हमारी किसी भी प्रवृत्ति के बारे में उठाया जा सकता है, और उठता ही है— विचार के बारे में, कला के बारे में, यहां तक कि अध्यात्म-साधना के बारे में। ऐसी किसी भी प्रवृत्ति के बारे में उठ सकता है। पर कर्म के बारे में यह मानो विशेष उठता है। कर्म में यह बोध गहरा होता है कि कर्म हम अपने से बाहर, अपने से भिन्न और अन्य किसी के प्रति करते हैं। वहां हम किसी और तथा कुछ और के सम्मुख होते हैं। मुझे तो यहां तक लगता है कि कर्म और उसके औचित्य-बोध में जो अपने से भिन्न और अन्य की चेतना संश्लिष्ट, बल्कि कहना चाहिए कि अविनाभावेन निहित है, वही चेतना हमारे बाह्यत्व-बोध की भी प्राण है। वही हमें अपने से बाहर जगत की ओर खींच कर ले जाती है।

—मुकुन्द लाठ

जिसकी जीवन-पोथी में सफलता है, सिद्धि है

✍ साध्वी विश्रुतविभा

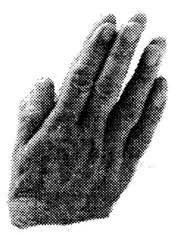

जब मन की शक्ति दृढ़ होती है, तब बहुत बड़ी समस्या भी छोटी प्रतीत होती है और जब मन का बल टूट जाता है तो राई जितनी समस्या भी पहाड़ बन जाती है। कोई भी समस्या न छोटी है और न बड़ी। समस्या का छोटा या बड़ा होना इस बात पर निर्भर है कि मनोबल कम है या अधिक। मनोबल का विकास होने पर व्यक्ति प्रत्येक समस्या को झेलने में सक्षम हो जाता है। वह परिस्थिति का हंसते-हंसते सामना कर लेता है। युवाचार्यश्री का मनोबल अटूट है, विलक्षण है, सहिष्णुता भी बेजोड़ है। इसलिए वे समस्या को दुख नहीं बनाते, किंतु उसका समाधान कर लेते हैं।

युवाचार्य मनोनयन दिवस

□

हर्षाभिवादन

तत्त्वार्थवार्तिक में बलालंबन ऋद्धि के तीन प्रकार बतलाए गए हैं[1], ये हैं—1. मनोबली, 2. वचनबली, 3. कायबली। मनोबली वे होते हैं—जो मनःश्रुतावरण और वीर्यांतराय कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम से अंतर्मुहूर्त में ही संपूर्ण श्रुतार्थ के चिंतन में निष्णात होते हैं।[2] वचनबली वे होते हैं—जो मन और रसनाश्रुतावरण तथा वीर्यांतराय कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम से अंतर्मुहूर्त में ही संपूर्ण श्रुतार्थ के उच्चारण में समर्थ होते हैं।[3] कायबली वे होते हैं—जो वीर्यांतराय कर्म के असाधारण क्षयोपशम से मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि प्रतिमाओं को धारण करने पर भी थकावट और क्लांति का अनुभव नहीं करते।[4]

इन तीनों ऋद्धियों की उपलब्धि सहज नहीं होती। फिर भी हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्तित्व निर्माण में शरीर, वचन और मन के बल का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सफलता और शक्ति में अनुबंध है। शक्ति-शून्य व्यक्ति कभी सफलता की सोपान वीथी का आरोहण नहीं कर सकता। उसी व्यक्ति ने सफलता और संपदा का वरण किया है—जिसमें बल है, शक्ति है और लक्ष्य के प्रति समर्पण है। इस दृष्टि से जब हम युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की जीवन-शैली और कर्तृत्व को देखते हैं तब यह तथ्य एक सच बनकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने जीवन की विकास-यात्रा में अनेक शिखरों का स्पर्श किया है। सफलता ने उनके चरणों का अनुगमन किया है। उनकी सफलता का एक रहस्य यह है कि उनके पास शरीर का बल है, वचन का बल है और मन का बल है। जिसके पास ये तीनों बल होते हैं वह व्यक्ति निश्चित ही अपने गंतव्य तक पहुंच जाता है।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की सफलता का पहला रहस्य है—उनके शरीर का बल। साधना के उच्च शिखर पर चढ़ने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य का होना बहुत आवश्यक है। शारीरिक स्वास्थ्य के बिना व्यक्ति महत्त्वपूर्ण कार्यों का संपादन नहीं कर

सकता। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी पूर्ण निष्ठा एवं जागरूकता से अपने दायित्व का निर्वहन कर रहे हैं। उसका घटक तत्त्व है—उनका शारीरिक स्वास्थ्य।

दशाश्रुतस्कंध में आचार्य की आठ संपदाओं का उल्लेख है। उनमें एक है—शरीर-संपदा। शरीर-संपदा के चार प्रकार हैं[5]। ये हैं—1. आरोह-परिणाह-संपन्न—आचार्य के शरीर का पहला अतिशय है—आरोह-परिणाह-संपन्न होना। वे न बहुत लंबे होते हैं, न बौने। शरीर की उचित ऊंचाई होती है। वे न स्थूल होते हैं, न दुर्बल। उनका आरोह और परिणाह, दोनों तुल्य होते हैं। 2. अनपत्रप—आचार्य के शरीर का दूसरा अतिशय है—शोभनीय शरीर। सभी अवयवों का सौंदर्य-परिपूर्ण होना। 3. स्थिर संहनन—आचार्य के शरीर का तीसरा अतिशय है—स्थिर संहनन। उनकी शरीर रचना सुदृढ़ होती है। 4. परिपूर्ण इंद्रिय—आचार्य के शरीर का चौथा अतिशय है इंद्रियों का परिपूर्ण और स्वस्थ होना।

शरीर-संपदा की ये कसौटियां युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के व्यक्तित्व में स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। आपके शरीर का आरोह और परिणाह समान हैं। सभी अवयवों के विकसित होने से आपका शारीरिक सौंदर्य सबको आकर्षित करने वाला है। आपकी शारीरिक संरचना भी सुदृढ़ है, स्वस्थ है और इंद्रियां परिपूर्ण हैं। इसका एक साक्ष्य यह है कि युवाचार्यश्री प्रलंब यात्रा में भी कभी थकावट का अनुभव नहीं करते। स्वस्थ, प्रसन्न और तरोताजा बने रहते हैं।

पंजाब यात्रा के दौरान एक दिन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी आगम कोश का कार्य करवा रहे थे। 'कायबली' शब्द के संदर्भ में तत्त्वार्थवार्त्तिक का परिशीलन हो रहा था। अकस्मात् आपका ध्यान 'कायबली' शब्द पर केंद्रित हो गया। आचार्यश्री ने तुरंत फरमाया—'कायबली श्रांति और क्लांति का अनुभव नहीं करता। ये सब बातें महाश्रमण में घटित होती हैं। उपवास में भी गोचरी जाना, व्याख्यान देना, लोगों को सेवा कराना आदि-आदि सब कार्य चालू रहते हैं। कभी भी क्लांति का अनुभव नहीं करते। महाश्रमण का शरीरबल अच्छा है, इसलिए कार्य सुगमता से हो जाता है।'

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की सफलता का दूसरा रहस्य है—उनका वचनबल। जिस व्यक्ति की वचन-शक्ति विलक्षण होती है, वह सबके लिए आकर्षण का हेतु बनता है। आचार्यश्री तुलसी ने पंचसूत्रम् में वाक्-कौशल के प्रभाव का इन शब्दों में रेखांकन किया है[6]—

वाक्कौशलं चमत्कारो, यात्वस्ति महतो महत्।
आकर्षति जनान् सद्यः तथानुगमयत्यपि।।

जिसके पास वाक्-कौशल का जादू होता है, वह दूसरे व्यक्तियों को सम्मोहित कर लेता है। लोग स्वयं उसका अनुगमन करने लग जाते हैं।

आचार्य की एक महत्त्वपूर्ण संपदा है वचन-संपदा। दशाश्रुतस्कंध में इसके चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है[7]—1. आदेय वचन, 2. मधुर वचन, 3. अनिश्रित वचन, 4. असंदिग्ध वचन।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी में वचन-संपदा के ये सभी घटक-तत्त्व विद्यमान हैं। वचन-संपदा का पहला अतिशय है—आदेय वचन। युवाचार्यश्री का प्रत्येक शब्द आदेय है। आदेय वचन की विशिष्टता के कारण ही किसी भी व्यक्ति को कोई भी कार्य करने का निर्देश देते हैं तो वह उस कार्य को करने के लिए प्रसन्न मन से तैयार हो जाता है। किसी भी साधु या साध्वी को अध्ययन अथवा अध्यापन के लिए इंगित करते हैं, वह उस कार्य को संपादित करने के लिए तत्पर हो जाता है।

वचन-संपदा का दूसरा अतिशय है—मधुर वचन। युवाचार्यश्री की वाणी में मधुरता है। आप रोजमर्रा की भाषा में भी अर्थयुक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं। परुष और कठोर शब्द सदैव आपके अमल-धवल आभामंडल से दूर रहते हैं। संघीय दृष्टि से जब-तब 'सारणा-वारणा' के प्रसंग प्रस्तुत होते रहते हैं। सारणा-वारणा के क्षणों में भी वाणी के माधुर्य में कोई अंतर नहीं आता।

वचन-संपदा का तीसरा अतिशय है—अनिश्रित वचन। जो वचन क्रोध से उत्पन्न न हो, जो वचन राग-द्वेष से उत्पन्न न हो, 'उवसमसारं सामण्णं'—यह आर्षवाणी युवाचार्यवर के जीवन में अक्षरशः चरितार्थ होती है। आपकी भाषा में भी उपशांतभाव दृष्टिगोचर होता है। कभी भी ऐसा महसूस नहीं होता कि आप उत्तेजित होकर बात कर रहे हैं या अहंकार की भाषा में बोल रहे हैं।

वचन-संपदा का चौथा अतिशय है—असंदिग्ध वचन, स्पष्ट वचन। युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के शब्द स्पष्ट होते हैं। इसलिए श्रोता के लिए वे शब्द सहज ग्राह्य बन जाते हैं। शब्दों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के कारण आपका प्रवचन आम जनता के लिए हृदयस्पर्शी होता है।

वचन-संपदा के ये सभी अतिशय युवाचार्यश्री के

व्यक्तित्व को विशिष्ट आभा प्रदान कर रहे हैं। प्रश्न होता है—वचन की विशिष्टता का रहस्य क्या है? जो व्यक्ति हित, परिमित, मधुर और सत्यभाषी होता है—उसका वचन केवल वाग्-विलास मात्र नहीं होता। उसका हर वाक्य शक्ति-समन्वित बन जाता है। युवाचार्यवर हित, संयत, मृदु और सत्य-वाक् के प्रयोक्ता हैं। मौन रहने का भी बहुत अच्छा अभ्यास है। शायद इसीलिए ये अतिशय इन्हें सहज उपलब्ध हो गए हैं। यही कारण है कि बहुत बार उनका मौन ही जिज्ञासु की जिज्ञासा को समाहित कर देता है।

जापान के सम्राट् ने एक योगी को सम्मानपूर्वक राजमहल में बुलाया और कहा—आप मुझे सुखी रहने का मंत्र बताएं। योगी आया और सम्राट् के सामने बैठ गया। पांच मिनिट बीते, दस मिनिट बीते....। सम्राट् योगी के मुंह से कुछ सुनने के लिए उत्सुक हो रहा था। सभा में सारे लोग मौन थे। आधा घंटा बीत गया। सम्राट् प्रतीक्षा कर रहा था और योगी ने मौन साध लिया। सम्राट् अधीर हो गया। उसने कहा—'मैंने तो सुखी जीवन के सूत्र जानने के लिए आपको आमंत्रित किया था, लेकिन आप लगातार मौन हैं।'

सम्राट् का मंत्री मौन का मर्म समझता था। वह बोला—'राजन्! उपदेश समाप्त हो गया, अब योगी के जाने की तैयारी है।' सम्राट् को कुछ भी समझ में नहीं आया। योगी सचमुच उठकर चलने को तैयार हो गया। चलते-चलते उसने सम्राट् की ओर देखते हुए शांत स्वर से कहा—'राजन्! नहीं बोलने से जो बात समझ में आती है, वह बोलने से समझ में नहीं आती।'

युवाचार्यश्री भी बातचीत में वाणी के पुद्गलों का अधिक व्यय नहीं करते। वे किसी की समस्या को सुनने का ही प्रयत्न अधिक करते हैं और अपनी मृदु मुस्कान से उसका उत्तर भी देते हैं। कभी-कभार आवश्यकता होने पर उसका 'हां' अथवा 'ना' में उत्तर देते हैं। ऐसे प्रसंग बहुत कम दृष्टिगोचर हुए हैं, जब समस्या को समाहित करने के लिए उन्होंने भाषा का प्रचुर प्रयोग किया हो।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की सफलता का तीसरा रहस्य है—उनका मनोबल। जिस व्यक्ति का मनोबल विकसित होता है, वह कभी भी, किसी भी परिस्थिति में घुटने नहीं टेकता। उसकी सहन करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। वह अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं से प्रभावित नहीं होता। जब मन की शक्ति दृढ़ होती है, तब बहुत बड़ी समस्या भी छोटी प्रतीत होती है और जब मन का बल टूट जाता है तो राई जितनी समस्या भी पहाड़ बन जाती है। कोई भी समस्या न छोटी है और न बड़ी। समस्या का छोटा या बड़ा होना इस बात पर निर्भर है कि मनोबल कम है या अधिक। मनोबल का विकास होने पर व्यक्ति प्रत्येक समस्या को झेलने में सक्षम हो जाता है। वह परिस्थिति का हंसते-हंसते सामना कर लेता है। युवाचार्यश्री का मनोबल अटूट है, विलक्षण है, सहिष्णुता भी बेजोड़ है। इसलिए वे समस्या को दुख नहीं बनाते, किंतु उसका समाधान कर लेते हैं।

पंजाब यात्रा में हमें युवाचार्यश्री को बहुत निकटता से देखने का अवसर मिला। 15-16 किलोमीटर का विहार करके आते। कायोत्सर्ग करते और शीघ्र व्याख्यान में पधार जाते। लंबे विहार के बावजूद भी मुखारविंद पर वही प्रसन्नता झलकती। न यात्रा की थकान, न प्रवचन का भार। इस स्थिति का निर्माण तभी संभव बनता है जब व्यक्ति का मनोबल पुष्ट हो जाता है।

मन के तीन कार्य हैं—स्मृति, चिंतन और कल्पना। स्मृति का संबंध अतीत के साथ है। चिंतन का संबंध वर्तमान के साथ है और कल्पना का संबंध भविष्य के साथ। ये तीनों जीवन के लिए आवश्यक हैं। जिस व्यक्ति में स्मृति की क्षमता है, चिंतन की क्षमता है और कल्पना की क्षमता है—वह विकास के शिखर को छू सकता है। युवाचार्यश्री की स्मरणशक्ति अद्भुत है। हजारों की संख्या में संस्कृत श्लोक आज भी आपको कंठस्थ हैं। प्रवचन के दौरान बहुधा गीता के श्लोक और आर्षवाणी के सूक्तों अथवा पद्यों का अस्खलित रूप से उच्चारण करते हैं।

आचार्य की स्मरणशक्ति तीव्र होनी चाहिए। उनके सामने अनेक समस्याएं आती हैं, अनेक परिस्थितियां आती हैं। उन्हें अनेक आदेश-निर्देश देने पड़ते हैं। यदि आचार्य की स्मरणशक्ति कमजोर हो तो वह अपने कार्यों को अच्छी तरह संपादित नहीं कर सकता। युवाचार्यश्री की स्मरणशक्ति विलक्षण है। जैन पारिभाषिक शब्दकोश का कार्य लंबे समय से आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की सन्निधि में चल रहा है। प्रायः शब्दों का विमर्श चलता रहता है। कार्य का निर्धारित समय संपन्न होने पर कभी-कभी आज के शब्द को कल के लिए छोड़ दिया जाता है। दूसरे दिन जब हम निश्चित समय पर कार्य करने के लिए आचार्यश्री की उपासना में पहुंचते हैं, अग्रिम शब्द लिखने की तैयारी करते हैं तब युवाचार्यश्री फरमाते हैं—'कल जो शब्द अधूरा रह गया था, उसे पहले

पूरा कर लो। फिर नया काम शुरू करें।' कार्य की अत्यधिक व्यस्तता के बावजूद भी युवाचार्यश्री की स्मृति श्लाघनीय है।

युवाचार्यश्री की चिंतन क्षमता विशिष्ट है। आप किसी भी विषय पर खूब गहराई से चिंतन-मंथन करते हैं। सहज रूप से किसी की बात को नहीं स्वीकारते, उस पर तर्क करते हैं और प्रामाणिक होने पर उसे मान्य करते हैं। आगम कोश के कार्य के दौरान मैंने अनुभव किया कि आचार्यश्री के प्रति वे पूर्ण समर्पित हैं, विनम्र हैं, कहीं कोई तर्क नहीं, किंतु जहां कभी किसी शब्द के स्पष्टीकरण का प्रसंग आता तो उस समय आचार्यश्री द्वारा परिभाषित शब्द स्पष्ट न होने पर प्रतिप्रश्न की श्रृंखला-सी शुरू हो जाती है और वह तब तक चलती रहती है जब तक कि वह परिभाषा हृदयंगम नहीं होती। इस संदर्भ में एक संस्मरण का उल्लेख प्रासंगिक होगा—

पंजाब की यात्रा के दौरान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक छोटे गांव में विराज रहे थे। सन्मति प्रकरण के वाचन में द्रव्य और पर्याय विषय पर चर्चा चल रही थी।

युवाचार्यश्री बोलते हैं—आचार्य हेमचंद्र ने कहा है—

आदीपमाव्योमसमस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः।।[8]

दीपक अनित्य है, आकाश नित्य है—फिर इस श्लोक में दीपक और आकाश को समान कैसे कहा?

आचार्यश्री इसे स्पष्ट करते हैं—आकाश और दीपक दोनों समान नहीं हैं। दोनों का स्वभाव समान है। जिसमें परिवर्तन दिखाई दे रहा है, वह भी नित्य है। जो दीपक पर्याय है, वह भी नित्यत्व से मुक्त नहीं है और जो आकाश द्रव्य है, वह भी अनित्यत्व से मुक्त नहीं है। जो नित्य दिखाई दे रहा है, वह भी परिवर्तन से रहित नहीं है। आकाश में भी अनित्यत्व है और दीपक में भी नित्यत्व है।

नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों में हैं। जब नित्यत्व मुख्य रहता है तो अनित्यत्व गौण हो जाता है और जब अनित्यत्व मुख्य रहता है तब नित्यत्व गौण हो जाता है। आकाश और दीपक, दोनों का स्वभाव समान है। आचार्य ने बहुत सुंदर प्रयोग किया है—आदीपमाव्योमसमस्वभावम्।

शिष्य की जिज्ञासा और गुरु के समाधान में ही वाचन का समय सम्पन्न हो गया। आचार्यश्री ने फरमाया—महाश्रमण चिंतन गहरा करते हैं, मूल तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। पाठक विद्यार्थियों को भी तर्क-वितर्क और प्रतिप्रश्न करना चाहिए, अन्यथा गहराई नहीं आती।

युवाचार्यश्री में कल्पना की क्षमता भी अनुत्तर है। वे केवल अतीत में विश्वास नहीं करते। वर्तमान को सुंदर बनाने का प्रयत्न करते हैं और भविष्य के लिए योजनाएं भी बनाते हैं। आज का युग प्रबंधन का युग है। एक लक्ष्य निर्धारित करते हैं, उस दिशा में तीव्रता से कदम बढ़ाते हैं और लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। संघीय विकास के लिए भविष्य की कल्पनाएं भी करते रहते हैं। कुछ ही दिनों पूर्व युवाचार्यश्री ने आचार्यश्री से निवेदन किया—'आचार्यश्री! तेरापंथ धर्मसंघ में अनेक गतिविधियां चल रही हैं। मैं चाहता हूं कि कोई एक कार्य मैं अपने हाथ में लूं और पूरी योजना के साथ उसे आगे बढ़ाऊं।' आचार्यश्री ने अपने 87वें जन्म दिवस (23 जून, 2006) पर जीवन विज्ञान के कार्य को व्यापक बनाने के लिए युवाचार्यश्री को निर्देश दे दिया। युवाचार्यश्री उस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए तत्पर हो गए। उसके लिए एक कार्ययोजना निर्धारित की गई और उसके प्रथम चरण में एक 'वर्कशॉप' का आयोजन भी हो गया।

युवाचार्यश्री केवल चिंतन और निर्णय तक ही सीमित नहीं रहते, उसे क्रियान्वित भी करते हैं। आपका मनोबल सुदृढ़ है, इसीलिए किसी भी कार्य को आप निष्ठा के साथ सहज बना देते हैं।

शरीरबल, वचनबल और मनोबल से भी विशिष्ट है—भावबल। शरीर, मन और वचन की क्रिया का नियामक है भाव। जिसका भाव शुद्ध, निर्मल और विधायक होता है—उसका संकल्प सदा फलवान बनता है। युवाचार्यश्री की सफलता का चौथा रहस्य यह माना जा सकता है कि वे शरीर, मन और बुद्धि से परे भाव के स्तर पर जीने की साधना कर रहे हैं।

जिसके पास भाव का बल होता है—वह सहज ही भावविशुद्धि को प्राप्त करता है। पूर्वसंचित मल को दूर करने का एक उपाय है—भावविशुद्धि। इससे सकारात्मक सोच का निर्माण होता है। सकारात्मक सोच व्यक्ति को प्रगति के पथ पर अग्रसर करती है। युवाचार्यश्री का चिंतन सकारात्मक है। आप सबके हित की बात सोचते हैं, प्रियता अथवा अप्रियता में नहीं उलझते। कर्तव्य का सजगता से पालन करते हैं। आपके चिंतन में व्यक्ति गौण रहता है, संघ मुख्य। आपकी समग्र सोच संघीय विकास के परिप्रेक्ष्य में

केंद्रित रहती है। इस विधायक चिंतन के कारण ही आप अपने गुरुतर दायित्व का निर्वाह करने में सफल हो रहे हैं।

कतिपय संदर्भों में युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की जीवन-पोथी के कुछ पृष्ठों को मैंने पढ़ने का प्रयत्न किया है, जिससे यह अनुभव पुष्ट बना है कि जो शक्ति-संपन्न है, बल-संपन्न है, उसे सफलता और सिद्धि मिलती है। उसका व्यक्तित्व, कर्तृत्व और नेतृत्व—सब-कुछ विलक्षण बन जाता है। वह सहज प्रणम्य और श्रद्धेय पद को उपलब्ध कर लेता है।

संदर्भ

1. तत्त्वार्थवार्त्तिक 3/36/18 : बलालम्बनात्रद्धिस्त्रिविधा-मनोवाक्कायभेदात्।
2. मनःश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तनेऽवदाता मनोबलिनः।
3. मनोजिह्वाश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकंठाश्च वाग्बलिनः।
4. वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणकायबलत्वात् मासिक-चातुर्मासिकसांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लम-विरहिताः कायबलिनः।
5. दशाश्रुतस्कन्ध 4/6 : .....शरीरसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवति, अणोतप्पसरीरे, थिरसंघयणे, बहुपडिपुण्णिंदिए यावि भवति।
6. पञ्चसूत्रम् 3/18
7. दशाश्रुतस्कन्ध 4/7 चू : वयणसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-आदिज्जवयणे यावि भवति, महुरवयणे यावि भवति, अणिस्सियवयणे यावि भवति, असंदिद्धभासी यावि भवति।
8. अन्ययोग व्यवच्छेदिका—5

❖

'संन्यास' की कल्पना क्या है? कुछ कर्म छोड़ना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या? नहीं। मूलतः संन्यास की व्याख्या ही है—'सब कर्मों को छोड़ना।' सब कर्मों से मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना संन्यास है। परंतु कर्म न करने का अर्थ क्या? कर्म बड़ी विचित्र वस्तु है। सर्व-कर्म-संन्यास होगा कैसे? कर्म तो आगे-पीछे, अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी, बैठे तो भी क्रिया ही हुई न? 'बैठना' यह क्रियापद है। केवल व्याकरण की दृष्टि से ही वह क्रिया नहीं हुई, परंतु सृष्टिशास्त्र में भी 'बैठना' क्रिया ही है। सतत बैठे रहने से पैर दुखने लगते हैं। बैठने में भी श्रम तो है ही। जहां न करना भी कर्म सिद्ध होता है वहां कर्म-संन्यास हो भी कैसे? भगवान ने अर्जुन को विश्वरूप दिखलाया। सर्वत्र फैला हुआ वह विश्वरूप देखकर अर्जुन डर गया और घबराकर उसने आंखें मूंद लीं। परंतु, आंखें मूंदकर देखा, तो वह भीतर भी दिखाई देने लगा। अब आंख मूंद लेने पर भी जो दीखता है, उससे कैसे बचा जाए? न करने से भी जो होता है, उसे कैसे टाला जाए?

एक मनुष्य की बात है। उसके पास सोने के अनेक बहुमूल्य गहने थे। वह उन्हें एक बड़े संदूक में बंद करके रखना चाहता था। नौकर खासा बड़ा-सा एक लोहे का संदूक बनवा लाया। उसे देखकर उसने कहा—'तू कैसा बेवकूफ है रे गंवार! तुझे सुंदरता की कोई कल्पना भी है क्या? ऐसे बेशकीमती जेवर रखने हैं, तो क्या भद्दे लोहे के संदूक में रखे जाएंगे! जा, अच्छा सोने का संदूक बनवाकर ला।' नौकर सोने का संदूक बनवा लाया। 'अब ताला भी सोने का ही ले आ। सोने के संदूक में सोने का ही ताला फबेगा।' वह व्यक्ति गया था जेवर को छिपाने, उसे ढांककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला? चोरों को जेवर खोजने की जरूरत ही नहीं रही। संदूक उड़ाया और काम बना। सारांश यह है कि कर्म न करना भी कर्म करने का ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है, उसका संन्यास कैसे किया जाए?

ऐसे कर्मों का संन्यास करने की रीति ही यह है कि ऐसी युक्ति साधी जाए, जिससे दुनिया-भर के कर्म करते हुए भी वे सब गल जाएं। जब ऐसा हो सकेगा, तभी कह सकते हैं कि 'संन्यास' प्राप्त हुआ। कर्म करके भी उन सबका 'गल जाना' यह बात आखिर है कैसी? सूर्य के जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। रात को भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्ध में काम करता रहता है। परंतु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा भी कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नहीं करता। इसीलिए चौथे अध्याय में भगवान कहते हैं—'मैंने यह योग पहले सूर्य को सिखाया। फिर विचार करने वाले, मनन करने वाले मनु ने सूर्य से इसे सीखा।' चौबीस घंटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेशमात्र कर्म नहीं करता। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह स्थिति सचमुच अद्भुत है।

—विनोबा

प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः

✍ साध्वी श्रुतयशा

गुरु-प्राप्ति का एक प्रकार है—निसर्ग, अर्थात् व्यक्ति का जन्म ऐसे धार्मिक और सुसंस्कारी परिवार में होता है, जहां उसे परंपरा से अनायास ही गुरु उपलब्ध हो जाते हैं। गुरु-प्राप्ति का एक अन्य प्रकार है खोज—जिसमें गुरु को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति घाट-घाट का पानी पीता है, आश्रम-आश्रम का द्वार खटखटाता है, अनेकशः परीक्षाएं देता और लेता है। तब कहीं कोई एक अच्छा-सच्चा गुरु उपलब्ध होता है।

शिक्षक दिवस विशेष

निश्चयनय से हमारी अनन्त ज्ञानमय चेतना ही हमारा गुरु है। व्यवहारनय के अनुसार अज्ञान रूपी अंधकार से आच्छादित नेत्रों को जो अपनी ज्ञानांजन शलाका से उन्मीलित करे—उस महापुरुष का नाम है गुरु! 'गुरु' शब्द का विश्लेषण करते हुए प्राचीन साहित्यकारों ने लिखा है—

'गु' शब्दस्त्वनंधकारः 'रु' शब्दस्तन्निवारकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते।।

यद्यपि एक मत यह भी रहा है कि यदि हमने किसी से अक्षर का भी ज्ञान प्राप्त किया है, तो वह भी गुरु है। तथापि वह ज्ञान लौकिक है या लोकोत्तर, इस आधार पर परम सत्य का ज्ञान देने वाले शिक्षक या तत्सदृश अन्य व्यक्ति को समान नहीं किया जा सकता। वस्तुतः गुरु वह होता है—जो सत्य-प्राप्ति का सही मार्ग जानता है, उस मार्ग पर स्वयं चलता है तथा दूसरों को भी उस मार्ग पर चलने का उपदेश एवं प्रेरणा देता है। उसी गुरु को संसार-समुद्र के महापोत की उपमा से उपमित किया जाता है। जैन सिद्धांत दीपिका में गुरु शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—निर्ग्रन्थो गुरुः—अर्हत प्रवचन का अनुगमन करने वाला तथा बाह्य और आभ्यंतर ग्रंथियों से मुक्त साधु गुरु होता है।

गुरु की आवश्यकता क्यों

प्रत्येक व्यक्ति दुखों से मुक्त होना चाहता है। दुखमुक्ति का ही दूसरा नाम है—सत्यशोधन, परमेश्वरत्व-प्राप्ति या ब्रह्म-साक्षात्कार। वह तब तक संभव नहीं है, जब तक उचित मार्ग का ज्ञान न हो। अतः उचित मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु अपेक्षित है। एक व्यक्ति को पूछा गया—'आपने अभी तक भगवान को प्राप्त क्यों नहीं किया।' उसने उत्तर दिया—'मुझे मार्ग नहीं मिला।' फिर प्रश्न हुआ—'मार्ग क्यों नहीं मिला?' उत्तर मिला—'गुरु नहीं मिला, जो उचित और शुभ मार्ग का बोध देता।'

प्राप्तो नो परमेश्वरः कथमिदं, लब्धो न मार्गो मया।
लब्धः किन्न गुरुर्न लब्ध, उचित मार्ग दिशेद यः शुभम्।।

सत्यशोध का मार्ग कठिनाइयों का मार्ग है, अतः मार्ग-गत कठिनाइयों में आलंबन, मार्गदर्शन एवं समाधान देने के लिए जरूरी है—गुरु। सत्य-शोध में एक बड़ी बाधा है—प्रमाद, अर्थात् लक्ष्य की विस्मृति। अतः अपेक्षित है गुरु—जो समय-समय पर उसे प्रमाद से बचाए, उत्पथ से रोके, सत्पथ पर चलने के लिए हस्तावलंबन दे।

कैसे पाएं गुरु को

गुरु-प्राप्ति का एक प्रकार है—निसर्ग, अर्थात् व्यक्ति का जन्म ऐसे धार्मिक और सुसंस्कारी परिवार में होता है, जहां उसे परंपरा से अनायास ही गुरु उपलब्ध हो जाते हैं। गुरु-प्राप्ति का एक अन्य प्रकार है खोज—जिसमें गुरु को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति घाट-घाट का पानी पीता है, आश्रम-आश्रम का द्वार खटखटाता है, अनेकशः परीक्षाएं देता और लेता है। तब कहीं कोई एक अच्छा-सच्चा गुरु उपलब्ध होता है। उसका क्रम है—सत्संगति, भावना की उत्पत्ति, गुरु की एषणा-प्राप्ति।

जब वह बार-बार उत्तम लोगों के संपर्क में आता है, विभिन्न प्रकार के मार्गों, विचारों या मतों का ज्ञान उपलब्ध करता है—तब उसके मन में एक भावना जाग्रत होती है कि आखिर इन सबमें कौन, कितना सही है, कितना सुगम या दुर्गम है और उसके आधार पर कब, कैसे, कहां तक पहुंचना संभव है? यह भावना उसे एक सद्गुरु की खोज के लिए प्रेरित करती है, उसमें तड़प जगाती है और अंततः उसे उसकी प्राप्ति होती है। जैसा कि तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के साथ हुआ। एक गृहस्थ-जिज्ञासु के रूप में उन्होंने अनेक संप्रदायों में प्रवेश किया, अनेक धर्मोपदेशकों से सत्य को जानने का प्रयत्न किया और अंततः उन्हें गुरु रुघनाथजी के पास कुछ तृप्ति का आभास मिला। अनेक शास्त्रों के परिशीलन के पश्चात् उनकी वह अवधारणा भी परिवर्तित हो गई और उन्होंने—**अप्पाणं सरणं गच्छामि** का निरापद मार्ग स्वीकार कर लिया।

गुरु की गुरुता का मानक

जिस व्यक्ति को गुरु बनाया है—वह वस्तुतः गुरु है या नहीं? इसे जानने का मार्ग है—तद्विषयक (आध्यात्मिक) ग्रंथों का स्वाध्याय, श्रवण, मनन और निदिध्यासन। शास्त्रों के स्वाध्याय एवं परिशीलन से साधक की बुद्धि परिष्कृत होती है, उसकी प्रज्ञा स्फुरित होती है एवं वह जान पाता है कि जिस लक्ष्य से मैंने गुरु की शरण ली, उसके संदर्भ लक्ष्य की ओर मेरी गति कितनी हुई? यदि मैं अपने स्वीकृत मार्ग से रेखामात्र भी इधर-उधर होता हूं, तो क्या गुरु मुझे वहां से हटाकर मेरी कमी का परिष्कार करते हैं? क्योंकि सच्चा गुरु हमेशा कुंभकार के सदृश होता है, जो वात्सल्य परिपूरित चोट से शिष्य रूपी कुंभ की हर खोट को निकालने के लिए तत्पर रहता है। शास्त्र-परिशीलन, लक्ष्योन्मुखी प्रगति तथा यथावसर प्रमाद-परिष्कार के आधार पर व्यक्ति का अंतःकरण स्वयं बोल उठता है कि मैंने जिसे गुरु बनाया, वह सही है। क्योंकि—

सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु,
प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः।

गुरु : मनुष्य का अवतार

गुरु के प्रति समर्पण का अर्थ है—गुरु की गौरवमय अर्हताओं के प्रति पूज्यता का भाव। उस अवस्था में हम गुरु को एक मनुष्य के रूप में मानते हैं। अतः हम उसकी किसी भी मानवोचित वृत्ति या प्रवृत्ति को देखकर विचलित नहीं होते तथा गुरु भी हमारी तरह मनुष्य है और हम भी उन्हीं की तरह एक दिन अनेक अर्हताओं का विकास कर सकते हैं—यह भाव हमारी सुप्त-प्रसुप्त शक्तियों को अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है। जबकि यदि व्यक्ति गुरु को भगवान या देव का अवतार मान लेता है, तब वह उनकी हर वृत्ति को औचित्य की चौखट में फिट करने की चेष्टा करता है। साथ ही यह मानता है कि अमुक-अमुक अर्हताओं का विकास तो गुरु ही कर सकते हैं। वे दिव्यांश-संपन्न अवतारपुरुष हैं। हम जैसे सामान्य प्राणियों के वश की बात नहीं, अर्थात् गुरु को देव मानने वाले का आदर्श कभी व्यवहारगत नहीं हो सकता।

शक्ति विश्वास की या गुरु की

गुरु भी शक्ति है और गुरु का विश्वास भी शक्ति है। अकेला गुरु ही यदि शक्ति हो तो विश्वास के बिना गुरु का अर्थ ही क्या होगा? अकेला विश्वास ही यदि शक्ति हो तो जिस-तिस पर किया गया विश्वास कहां तक फलदाई होगा? क्यों व्यक्ति सच्चे गुरु की खोज करेगा? रोग को मिटाने के लिए न केवल दवा काम करती है और न केवल दवा का विश्वास।

समर्पण और विचार-स्वातंत्र्य

सामान्यतः विधि यह होनी चाहिए कि गुरु बनाने से

पूर्व जितना चाहें—जिज्ञासा, प्रश्न, परीक्षा या जांच-पड़ताल कर लेनी चाहिए कि जिसे गुरु बनाया जा रहा है उसे उचित मार्ग का ज्ञान है या नहीं, उसकी निष्ठा एवं आचार-व्यवहार कैसा है, शिष्यों के मार्गदर्शन की क्षमता कैसी है, इत्यादि। पर यदि एक बार गुरु-रूप में स्वीकार कर लिया तब उसके विषय में संदेह, शंका या आपत्तिजनक प्रतिप्रश्न का अवकाश नहीं रहता। हां, स्वयं की साधना एवं ज्ञानाराधना संबंधी जिज्ञासा की जा सकती है।

जहां तक विचार-स्वातंत्र्य का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि गुरु के निर्देश का आशय हमारे विवेक पर आधारित है। उसमें हमें अपनी विचारशीलता एवं विवेकशीलता का परिचय देना चाहिए। इसे हम एक कथानक के आधार पर समझ सकते हैं—

गुरु —'जाओ—आम लाओ।'

पहला शिष्य —'गुरुदेव! आम सचित्त होते हैं—कैसे लाऊं?'

दूसरा शिष्य —(मन में) 'लगता है कि वृद्धावस्था के साथ-साथ गुरुदेव में स्वाद-लोलुपता भी बढ़ गई है, जो आम लाने का अकल्प्य निर्देश दे रहे हैं।'

तीसरा शिष्य —'गुरुदेव! आम कौन-सा लाऊं? आचार का या मुरब्बे का?'

स्पष्ट है, तीसरे शिष्य ने गुरु के निर्देश को समझने में विचारशीलता का परिचय दिया।

मेरे गौरवशाली गुरु

मैं अपनी गणना उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में करती हूं—जिन्हें जन्मतः गुरु मिले होते हैं, गुरु की खोज में भटकना नहीं पड़ता। चूंकि हम तेरापंथी हैं—भिक्षु शासन में वर्तमान आचार्य ही गुरु होता है। अतः प्रारंभ से ही हमें यह सिखाया गया—'मेरे गुरु आचार्यश्री तुलसी हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अपना उत्तरदायित्व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को सौंप दिया, अतः वे ही हमारे गुरु हैं।'

शक्तिपात—एक संस्मरण

बात उस समय की है जब मुझे मुमुक्षु दीक्षा लिए एक साल भी पूरा नहीं हुआ था। हम बहुत-सी मुमुक्षु बहिनें गुरुदेवश्री तुलसी के उपपात में बैठी थीं। सहसा गुरुदेवश्री ने **उक्कित्तणं** (लोगस्स) की संस्कृत छाया के लिए निर्देश प्रदान किया। बड़ी-बड़ी और पढ़ी-लिखी बहिनें भी खड़े होकर संस्कृत छाया करने में संकोच कर रही थी। अचानक गुरुदेव की सुधामयी दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी और मैं खड़ी हो गई, जबकि उस समय तक न तो मुझे प्राकृत भाषा का क, ख, ग आता था और न मैं संस्कृत छाया के विषय में जानती थी। गुरुदेवश्री ने अपने दृष्टिक्षेप के द्वारा पता नहीं कौनसा शक्तिपात किया—मैंने उसके पांच पद्यों की संस्कृत छाया कर दी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि इस प्रकार का शक्तिपात प्रायः होता रहे तो मेरी बहुत-सी शक्तियों का सहज ही विकास हो सकता है।

इसी प्रकार कई बार ऐसा भी लगता है कि जब कभी मेरे मन पर अहंकार आदि भावों की रेखा खिंचती है और यदि मैं गुरुदेवश्री के मितावग्रह में होती हूं, तो तत्काल मेरे उस भाव का परिष्कार हो जाता है।

ज्ञानी कहते हैं

गुरु कौन होता है? क्यों बनाना चाहिए? गुरु की आराधना कैसे और क्यों करनी चाहिए? गुरु का महत्त्व, उसके गुण, उसकी आशातना (अविनय) का फल आदि विषयों में विकीर्ण रूप में अनेक गद्य एवं पद्य—संस्कृत, प्राकृत, हिंदी साहित्य में उपलब्ध हैं। सबका संग्रहण एवं समीक्षण तो एक स्वतंत्र शोध का विषय बन सकता है, नमूने के तौर पर कुछ यहां प्रस्तुत हैं—

अनंतज्ञानी शिष्य भी गुरु की उसी प्रकार पूजा-उपासना करे, जैसे अहिताग्नि ब्राह्मण मंत्रपदाभिषिक्त यज्ञाग्नि की।

जहाहियग्गी जलणं नाण नमंसे हुई तपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा, अठतनाणो वणगओ वि संतो।।

गुरु की पूजा क्यों करें

लज्जा-दया-संजम बंभचेरं कल्लाण भागिस्स विसोहिठाणं।
जे से गुरु सययमणुसासयंति ते हं गुरु सययं पूययामि।।

गुरु की आशातना प्रज्वलित अग्नि के अपक्रमण, आशीविष सर्प के कोप, विषभक्षण, सुप्त सिंह के जागरण आदि से भी भयंकर एवं दुखद है। क्योंकि—

आयरियपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा।।

नवांगी टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने गुरु का माहात्म्य कामधेनु, कल्पतरु और चिंतामणि से भी अधिक बताया है।

अधरीकृतचिन्तामणि कल्पलताकामधेनु माहात्म्याः।
विजयन्तां गुरुपादाः विमलीकृतशिष्यमति विभवाः।।

आचार्य सोमप्रभ के अनुसार गुरु की अनुशासना के अभाव में ध्यान, त्याग, तप आदि अशेष गुण लक्ष्यसिद्धि में अकिंचित्कर हैं—

किं ध्याने न भवत्वशेषविषय त्यागैस्तपोभिः कृतं,
पूर्णं भावनायालमिन्द्रियदमैः पर्याप्तमाप्तागऽमैमः।
किंत्वेकं भवनाशनं कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासनं,
सर्वे येन विना विनाथबलवत् स्वार्थाय नालं गुणाः।

कबीर ने तो लिखा है—

सात समंदर मसी करूं, लेखनि सब बनराय।
धरती सब कागद करूं, गुरु गुण लिख्या न जाय।।

समाज व राष्ट्र के संदर्भ में गुरु की भूमिका

एक आध्यात्मिक गुरु की सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों में प्रत्यक्षतः कोई भूमिका नहीं होती। पर, जीवन समग्र होता है, अतः उसके अनेक पहलुओं को सर्वथा भिन्न करके नहीं देखा जा सकता। गुरु के आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन से जब व्यक्ति की विवेक-चेतना जाग्रत हो जाती है, कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध जाग्रत हो जाता है, तब वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकता जिससे किसी सामाजिक या राष्ट्रीय हित का विखंडन हो, उसकी नीतियों का लंघन हो। नैतिकता एवं सदाचार के बिना भी क्या कोई अच्छा धार्मिक हो सकता है? अतः कहा जा सकता है कि स्वस्थ समाज एवं स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण में गुरु की अहम भूमिका है। एक विचारक के अनुसार—

I am indebted to my father for living,
but to my guru for living well.

❖

बीसवीं शताब्दी अपनी अनेक असाधारण विशेषताओं से जानी जाएगी, विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति, औद्योगिकी और प्राविधिक यंत्रों का चकाचौंध कर देने वाला विकास, मानव-संहार के विनाशकारी साधन... हम सब इनसे परिचित हैं। किंतु, जो चीज अकसर आंखों से ओझल रहती है, जो पिछली किसी शताब्दी में इतनी मुखर होकर सामने नहीं आई थी—वह है परिवर्तन की स्वचालित गति की स्वायत्तता, जो अपने अंतर्निहित नियमों द्वारा परिचालित होती है। मनुष्य उसका संचालक अवश्य है, किंतु एक सीमा के बाद परिवर्तन का संवेग उसकी इच्छा और संकल्पशक्ति पर नहीं, खुद अपनी लौहवत अनिवार्यता में चलता जाता है। घटनाएं होती हैं, इसलिए नहीं कि मनुष्य उन्हें चाहता है, इसलिए भी नहीं कि वे उपयोगी और वांछनीय हैं, बल्कि वे अपने होने की परवशता में आबद्ध हैं। मध्ययुगीन दुनिया में मनुष्य की संकल्पशक्ति को ईश्वरीय सेंक्शन या समर्थन प्राप्त रहता था जिसके चलते दुनिया में होने वाली घटनाएं भी एक तरह की वैधता अर्जित कर लेती थीं। पिछले तीन सौ वर्षों में इतिहास की विचारधाराओं ने ईश्वरीय सत्ता को निष्कासित करके परिवर्तन की एक क्रमबद्ध दिशा निर्धारित की थी। जो एक अंधी गली के मोड़ पर जाकर लुप्त हो चुकी है...एक समय जहां ईश्वर की मृत्यु की घोषणा हुई थी, आज वहां 'इतिहास के अंत' की बात कही जाती है। हम एक विकट विरोधाभास में जीते हैं, जहां मनुष्य जितना अधिक शक्तिशाली होता गया है, उस शक्ति का स्रोत उतना ही अधिक संदिग्ध और धूमिल पड़ता गया है। इससे परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई शिथिलता अथवा धीमापन नहीं आया है। घटनाएं अब भी होती हैं, किंतु अब उनका उत्स मनुष्य की विवेक-दृष्टि, उसके अंतःकरण में न होकर उन अमूर्त शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, जिस पर उसका अपना कोई वश नहीं। वे मनुष्य की इच्छा पूरी करती हों, यह बात अलग है, किंतु मनुष्य उन्हें अपनी इच्छा से संचालित करता है, यह कहना कठिन है।

—निर्मल वर्मा

बेटा! क्या मैं ज्यादा मांग रहा हूं

वनिता वैद

'पर बेटा, यह सब तुम्हारे थोड़ा-सा त्याग किए बिना नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ है कि तुम कुछ समय तक हमेशा की तरह छुट्टियां मनाने दादाजी के पास या पहाड़ों पर नहीं जा सकोगे। इसका मतलब यह भी है कि खर्च में भी कटौती करनी पड़ेगी। क्योंकि उसके माता-पिता देश के एक सुदूरवर्ती भाग में रहते हैं। और यह भी कि उनके शोक का भागीदार बनना होगा, ताकि उनका दुख थोड़ी-सी खुशी में बदल जाए। बेटा! अब कहो, क्या मैं तुमसे बहुत ज्यादा-कुछ मांग रहा हूं?'

बालकथा

घर चमचमा रहा था।

पापा के आने में सिर्फ आधा घंटा और बाकी था। उनके आने की उत्तेजना का बुखार बढ़ता जा रहा था। मम्मी जोर-शोर से तैयारी में जुटी थीं। परीदा भैया कमरे में आए और कंप्यूटर पर युद्ध का खेल खेलने में मशगूल रोहन से उत्तेजित स्वर में बोले—'रोहन, कंप्यूटर के परदे के सैनिकों को छोड़ो, सचमुच के सैनिक अब घर आने ही वाले हैं और अभी तुम्हें नहाना भी है। उठो। जब पापा आएं तो उनके सामने तुम्हें साफ-सुथरा होकर जाना चाहिए, ठीक?'

'ओ परीदा भैया—उस लड़ाई के बारे में आप एक बार और बताओ न....' उसने उस प्रसिद्ध लड़ाई का नाम लिया जो हाल ही में उसके पापा की पल्टन ने जीती थी। साहब का निजी 'सहायक' (अर्दली) होने के नाते, परीदा के पास सारी जानकारी थी।

उत्तर का इंतजार किए बिना ही रोहन उसी सांस में उत्तेजना से बोला—'भैया! पापा ने अच्छा किया जो आप को एक दिन पहले ही भेज दिया!'

वरदीधारी अर्दली ने सिर हिलाया। किंतु, रोहन के पीछे चलते हुए जो पीड़ा उसकी आंखों में उतर आई थी, उसे वह दबा नहीं सका। उसने जल्दी से उसे झटका और रोहन की उत्तेजित आवाज में खो गया।

'रोहन बेटा, जोंगा (जीप) आ गई है, चलो चलें!'—मम्मी ने आवाज दी। अपनी नई जींस और पुलओवर में लकदक और 'स्मार्ट' बना रोहन बाहर की ओर दौड़ा। लंबी-चौड़ी जोंगा में बैठते हुए रोहन प्रसन्नता से अपने पापा के विचारों में डूब गया।

इससे पहले मम्मी बहुत कम बातें करती थीं। रोहन से बातें किए भी कई-कई दिन हो जाते थे। बस, व्यग्रता से

टीवी पर युद्ध के बारे में समाचार दिखाए जाने का इंतजार करती रहती थीं। ऐसा कम ही होता था, जब मम्मी के चेहरे पर स्वाभाविक मुस्कान दिखाई दी हो। अन्यमनस्क और उद्विग्न होते हुए भी वे बाहर से दृढ़चित्त दिखाई देने की कोशिश करतीं और छावनी की अन्य महिलाओं के साथ विभिन्न कल्याण-केंद्रों पर जाकर जवानों के परिवारों को साहस बंधातीं।

आज उनकी आंखों में चमक थी।

'वो रहे!'—सैनिकों की भीड़ के बीच से अपने पापा को पहचानकर रोहन चिल्लाया। अपने पापा पर लगभग कूदते हुए रोहन ने खुशी से कहा—'पापा!'

मम्मी रोहन के थोड़ा पीछे ही थीं। पापा ने रोहन को जोर से अपने सीने से चिपका लिया। फिर उन्होंने आगे बढ़कर मम्मी को भी पास खींच लिया।

सेना की विशेष रेलगाड़ी से जैसे-जैसे सैनिक बाहर निकल रहे थे, वैसे-वैसे उनके परिवार वाले उनसे गले मिल रहे थे। चारों ओर यही समां था। अपने लोगों के बीच आकर उनमें से हर एक, पलभर के लिए युद्ध की विभीषिका को भूल गया था। आंसू बह रहे थे। यह संदेश भी सुना रहे थे कि युद्ध समाप्त हो गया है और सैनिक घर लौट आए हैं।

उसी शाम सारा परिवार भोजन करने मेज के इर्द-गिर्द बैठा। पापा अनमने-से खाना खा रहे थे। मम्मी कुछ तनावग्रस्त लग रही थीं। रोहन पूछना चाहता था कि बात क्या है। लेकिन, जब पापा अपने ही विचारों में डूबे होते हैं तो उन्हें किसी का भी टोकना अच्छा नहीं लगता। मम्मी भी खोई-खोई थीं। उसकी कुछ भी पूछने की हिम्मत नहीं हुई। यह हो क्या रहा है?

सब लोग उठे और रोहन ने उन्हें गुडनाइट किया। बाद में, अपनी चादर ओढ़ते हुए उसने बाहर अंधकार की ओर देखा। पापा के घर लौटने की जो तस्वीर उसने अपने मन में बनाई थी, वह ऐसी तो नहीं थी। विनोदपूर्ण ढंग से उसे छेड़ना कहां गया? क्रिकेट और पिकनिक की योजनाएं क्या हुईं? जब से पापा लौटे हैं, सब से कटे-कटे-से लगते हैं।

शुरू-शुरू के जोश के बाद जैसे वह अकेले रहना चाहते हैं। मम्मी भी चिड़चिड़ी हो रही थीं। अगली सुबह रोहन उनींदा-सा जल्दी-जल्दी नाश्ते से पहले ही तैयार हो गया। पापा को पकड़कर क्रिकेट खेलने के लिए मना लेगा, इसी आशा में रोहन बड़े उत्साह से दरवाजे से बाहर दौड़ा। उसके पापा लॉन के एक छोर पर बैठे थे।

चुपके से उनके पीछे से जाकर रोहन ने जोर से 'हाऽऽऽऊ!' किया। अपनी पुरानी मनपसंद शरारत का जवाब उसे थके स्वर में मिला—'रोहन....अच्छा, गुडमार्निंग।' इसके बाद उसके पापा फिर से अपने खयालों में डूब गए। हतोत्साहित होकर रोहन भी अपने पापा के पास बैठ गया। अगले पांच मिनटों तक वे ऐसे ही बैठे रहे। इसके बाद अचानक उसके पापा ने बोलना शुरू कर दिया। जो घटनाएं उनके दिमाग में घूम रही थीं, उनके बारे में उन्होंने बात करना शुरू कर दिया—'रोहन, युद्ध कोई बहुत अच्छी बात नहीं है! हालांकि देश की रक्षा के लिए यह आवश्यक है।'

इससे पहले कि रोहन समझ पाता कि उसके पापा क्या कहना चाहते हैं, उन्होंने फिर कहना शुरू कर दिया—'सैन्य प्रशिक्षण तो बहुत कठोर होता है, पर यह लड़ाई कोई बहुत थर्रा देने वाली नहीं थी। हम सब सिपाही घर जाने के जोश में थे।'

हलकी मुस्कान के साथ थोड़ी देर चुप्पी रही—'मुझे वह अब भी याद है। हमारा युवा लेफ्टिनेंट! ऊंचा-पूरा कद, जोशीला और बहादुर....बहुत ही बहादुर था वह!'

रोहन के पापा अपनी बात कहने में इतने मगन हो गए थे कि उन्होंने रोहन को यह बताने की जरूरत ही नहीं समझी कि 'वह' था कौन! वे ऐसे बोलते जा रहे थे, जैसे अपने-आप से बातें कर रहे हों। वे यह आशा कर रहे थे कि रोहन बिना कोई प्रश्न किए उनकी बातें सुनता रहे—'वह पल्टन का दुलारा था। अकादमी से निकलकर आया ही था। तुम्हारी मां भी उससे नहीं मिल पाईं, क्योंकि वह सीधे युद्ध के मैदान में आकर यूनिट में शामिल हुआ था। भाग्यवश, हम दोनों को एक विशेष

कार्य के लिए एक साथ भेजा गया। वह इलाका बहुत दुष्कर और ऊबड़-खाबड़ था। लेकिन, इसके दूसरी ओर दुश्मन एक बेहतर स्थिति वाले ढाल पर था और हमारी सैनिक चौकी के लिए परेशानियां पैदा कर रहा था।'

इसके बाद पापा मन-ही-मन कुछ सोचने लगे। रोहन को लगा कि अब वे नहीं बोलेंगे, लेकिन पापा फिर से रुक-रुक कर उन दुखद घटनाओं के बारे में बताने लगे।

'मध्यरात्रि में हम उस खास काम के लिए निकले। खाने के नाम पर हमारे पास कुछ सूखी मिठाइयां ही थीं। अपने कमांडिंग आफिसर का उत्साहवर्धक भाषण सुनने के बाद हथियारों से पूरी तरह लैस होकर हम चल पड़े। निर्विरोध, जैसे-जैसे हम सुरक्षित क्षेत्रों से होकर आगे बढ़ते जा रहे थे, वैसे-वैसे हम अपने लक्ष्य के और करीब होते जा रहे थे। भोर होने के साथ ही आड़ में छुपकर हम विश्राम करने लगे। हम केवल रात के अंधेरे में छुपकर ही आगे बढ़ते हैं।

'जब हम आराम कर रहे थे, तब 'वह' मुझे अपने बारे में बताने लगा। हमारी बातचीत अधिकतर उसके विकलांग भाई पर ही केंद्रित रही।

'मुझे अपने गूंगे और बहरे भाई को विशेष स्कूल में भेजना है....मैं दो कारणों से सेना में भर्ती हुआ हूं, एक तो निश्चित रूप से देश की रक्षा करने का है, और दूसरा कारण यह कि मैं अपने भाई को सर्वोत्तम अवसर उपलब्ध कराना चाहता हूं। मैंने अपनी मां से इस बात का वादा किया है, उसने आगे कहा। देखो, उसके माता-पिता बूढ़े और अशक्त हैं। उन्हें शायद यही आशा है कि उनका सैनिक बेटा ही उनके सपने साकार करेगा।'

पापा रोहन का हाथ थामकर आगे बढ़ गए। अब वे बात के सबसे कष्टदायक हिस्से पर आ गए—'आक्रमण अचानक हुआ था। पांच घंटों तक घेराबंदी करने के बाद भी नतीजा कुछ नहीं निकला। हम वह स्थान छोड़ रहे थे, तभी हम पर गोलियों की बौछार हुई।'

'अपने-आप को आड़ में करके हमने भी गोलियों का जवाब गोलियों से दिया। फिसलते हुए मैं जैसे ऊबड़-खाबड़ घास के बीच जा गिरा। तभी एक दुश्मन आड़ से बाहर निकला और अंधाधुंध गोलियां बरसाते हुए मेरी ओर बढ़ा।'

'मैं लुढ़ककर एक ओर हो गया, लेकिन वह फिर मेरी ओर झपटा। तभी मेरा साहसी युवा दोस्त गोलियां बरसाते हुए आड़ से बाहर निकला। उसने दुश्मन को तो मार गिराया, लेकिन वह खुद खुले में आ गया था। तभी दूसरी ओर से दुश्मन की एक सनसनाती गोली आकर उसे लगी। उसे गिरते देख हम शांत नहीं रह सके। हमने एक-एक को मार गिराया। लेकिन, इस जीत से हमारा मन प्रसन्न नहीं था। हमारा युवा 'दुलारा' शहीद हो गया था। अपने प्रियजनों से दूर एक वीरान इलाके में उसने अंतिम सांस ली थी।'

पापा का गला रुंध गया—'उसने मेरी जान बचाई थी। मैं जानता हूं कि निडर होकर शत्रु का सामना करना उसके कर्तव्य का ही एक अंग था। क्योंकि सेना में हमें यही सिखाया जाता है। लेकिन जो हानि हुई थी वह....इस तरह विवेकहीन....'

रोहन को गले में कुछ अटकता-सा महसूस हुआ। उसके पापा चुप हो गए। फिर रोहन की ओर देखकर कहा—'रोहन, मैं मदद करना चाहता हूं। युद्ध में वीरता दिखाने वालों को सेना कई तरह के लाभ देती है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। उसके बूढ़े माता-पिता को कोई ऐसा चाहिए जो उनके बेटे की भरपाई कर सके....जो उनके वीर बेटे की याद को जीवंत कर सके....यहां आने से पहले मैं उनसे मिलने गया था।'

रोहन के चेहरे पर जिज्ञासा-भरे भाव देख पापा ने बात समझाई—'हां, बटालियन के कर्तव्य का निर्वाह करने के लिए मैं उनसे मिलने गया था, क्योंकि वह मेरा कंपनी आफिसर था। मुझे युद्ध-क्षेत्र से ही उनके पास भेज दिया गया था!'—पापा ने गहरी सांस ली और आगे कहा—'उसके माता-पिता चकराए हुए लगे थे। वे टूट गए थे। उनका बेटा वापस क्यों नहीं आ रहा? शहरी जीवन की भागदौड़ के आदी न होने के कारण वे अब भी समझ नहीं पा रहे थे कि उनका बेटा उनसे किया हुआ वादा न निभाकर सेना में जाकर क्यों भर्ती

हो गया? मैंने चार दिन उनके साथ बिताए। उसका भाई हरदम मुझसे चिपका रहता था। शायद उसे एक तरह की सांत्वना और सुरक्षा की अनुभूति होती होगी।'

पल-भर के लिए एक अजीब-सी खामोशी छा गई। रोहन ने अपनी सांस रोक ली।

पापा सीधे खड़े होकर कहने लगे—'तुम्हारी मां और मैंने यह निश्चय किया है कि हम कुछ समय तक उनके गांव में उनके साथ रहेंगे। अपने विकलांग भाई के लिए उसने जो सपना देखा था, उसे साकार करने में हम उनकी मदद करेंगे। हम भौतिक वस्तुओं से नहीं, बल्कि सशरीर उपस्थित रहकर उन्हें आराम पहुंचाने की कोशिश करेंगे।'

'पर बेटा, यह सब तुम्हारे थोड़ा-सा त्याग किए बिना नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ है कि तुम कुछ समय तक हमेशा की तरह छुट्टियां मनाने दादाजी के पास या पहाड़ों पर नहीं जा सकोगे। इसका मतलब यह भी है कि खर्च में भी कटौती करनी पड़ेगी। क्योंकि उसके माता-पिता देश के एक सुदूरवर्ती भाग में रहते हैं। और यह भी कि उनके शोक का भागीदार बनना होगा, ताकि उनका दुख थोड़ी-सी खुशी में बदल जाए। बेटा! अब कहो, क्या मैं तुमसे बहुत ज्यादा-कुछ मांग रहा हूं?'

अनवरत बहते आंसुओं को पोंछने की कोशिश करते हुए रोहन ने अपने ही गले में थूक निगला और निश्चयात्मक स्वर में फुसफुसाया—'बिलकुल नहीं, पापा, सच तो यह है कि मैं भी मदद करना चाहूंगा!'

उसके पापा ने सिर हिलाया और अपनी बांहें फैलाकर रोहन को गर्मजोशी से सीने से लगा लिया।

उन बहुमूल्य क्षणों में, जब वे दोनों एक-दूसरे को पूरी तरह जान गए थे, रोहन को लगा जैसे समय ठहर गया हो। अपने पापा की बांहों में सिमटे हुए उसने ऊपर सूर्य की ओर देखा, जो उन पर प्रोत्साहित करती, चमकती किरणें बिखेरने के लिए जैसे और ऊपर उठ आया था। ❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

मेरी बात को पूरा करते हुए आश्वस्त भाव से वह बोलीं,

—अच्छा, अच्छा, आप ही उनके यहां आए हैं....अरे, आप बैठें। सामने रखी कुर्सी पर बैठने का संकेत किया। मुझे बैठा देख वह बोलीं,

—किसी की अभ्यर्थना में न उठना कितनी बुरी बात है,....पर वृद्धायकाल होता ही ऐसा है।

मैंने देखा कि वह बहुत अच्छी हिंदी बोल रही थीं। मेरे इस आश्चर्य को वह बूझ ले गईं। कहा,

—किसी भी भाषा को उसके सुंदर रूप में ही जानना चाहिए।

उनके उस वृद्धमुख में मुस्कराहट जिस प्रकार तथा जिस मात्रा में घुली-मिली थी, वैसी मैंने किसी में नहीं देखी। अनेक सुंदर, असुंदर, युवा, बच्चे—न जाने कितने मुखों को देखा होगा, पर ऐसा पूजामुख नहीं देखा, जिसमें वनस्पतियों की-सी ताजगी, उन्मुक्तता तथा दिव्यता भी हो। ऐसा मुख तभी संभव है, जब व्यक्ति पूर्ण रूप से वृक्षों की भांति ही धरती से बंधे होने पर भी अपनी गति में ऊर्ध्वता रखता हो।

—आप पहली विदेशी हैं जो किसी भारतीय भाषा को उसके पूरे उच्चारण सौंदर्य के साथ बोल रही हैं, वरना अंग्रेजियत ने तो एक नए ही प्रकार का उच्चारण प्रस्तुत कर दिया है।

वह मेरी बात पर केवल मुस्करा दीं।

—मैं आपको किस नाम से पुकार सकती हूं?

—मुझे नीहार कहते हैं।

—नीहार तो शायद....

—हां, केवल नीहार स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होता है।

—समझी। अच्छा नीहार बाबू! आप क्या लेंगे?

—आप चाय-वाय की झंझट रहने दें। पीकर ही चला हूं। मैं तो बिना बुलाए आने के लिए क्षमा मांगना चाहूंगा।

—मैं समझती हूं कि यह पश्चिमी ढंग आप भारतीय न अपनाएं तो अच्छा है। यह आपकी सभ्यता में नहीं है। यहां की प्रकृति जितनी खुली है, उसी के अनुरूप यहां का मनुष्य, समाज, व्यवहार सब-कुछ खुला है। भगवान के लिए हमारी यह औपचारिकता हमीं लोगों तक रहने दें।

श्रीमती डेविस की इस बात से मुझे काफी आश्चर्य हुआ। यूरोपीय होते हुए भी भारतीयता के प्रति एक सम्यक् दृष्टि थी।

—आप शायद यहां घूमने आए हैं।

—घूमने क्या....असल में डाक्टर उपाध्याय मेरे बचपन के मित्र हैं। कई दिनों से आने के लिए कह रहे थे।

—इट इज ए व्हेरी स्माल प्लेस।

—फिर भी लगता है आपको बहुत प्रिय है यह जगह।

—यहां की जलवायु बहुत अच्छी है। आप तो मैदान से आ रहे होंगे।

—जी हां, दिल्ली रहता हूं।

—तब तो यहां आना आपके लिए सुखद 'चेंज' है।....आज से वास्तविक पहाड़ी मौसम शुरू हुआ। ❖

शेष अगले अंक में

...SAGAR...GYANMANDIR
SADHANA KENDRA
...gar-332 0...
...23276294-95

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

HTC TRADING PVT. LTD.

16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001
Phones : 242-6141/9857/9426/9923
Fax : 91-33-2422004
e-mail : sirohia@mail.com

Wholesale Distributors & Dealers in

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettlon, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

For Your Requirements of Spare Parts for

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVET
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

प्रेषण दिनांक 30 अगस्त, 06 • Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004-06
जैन भारती, सितंबर, 2006 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

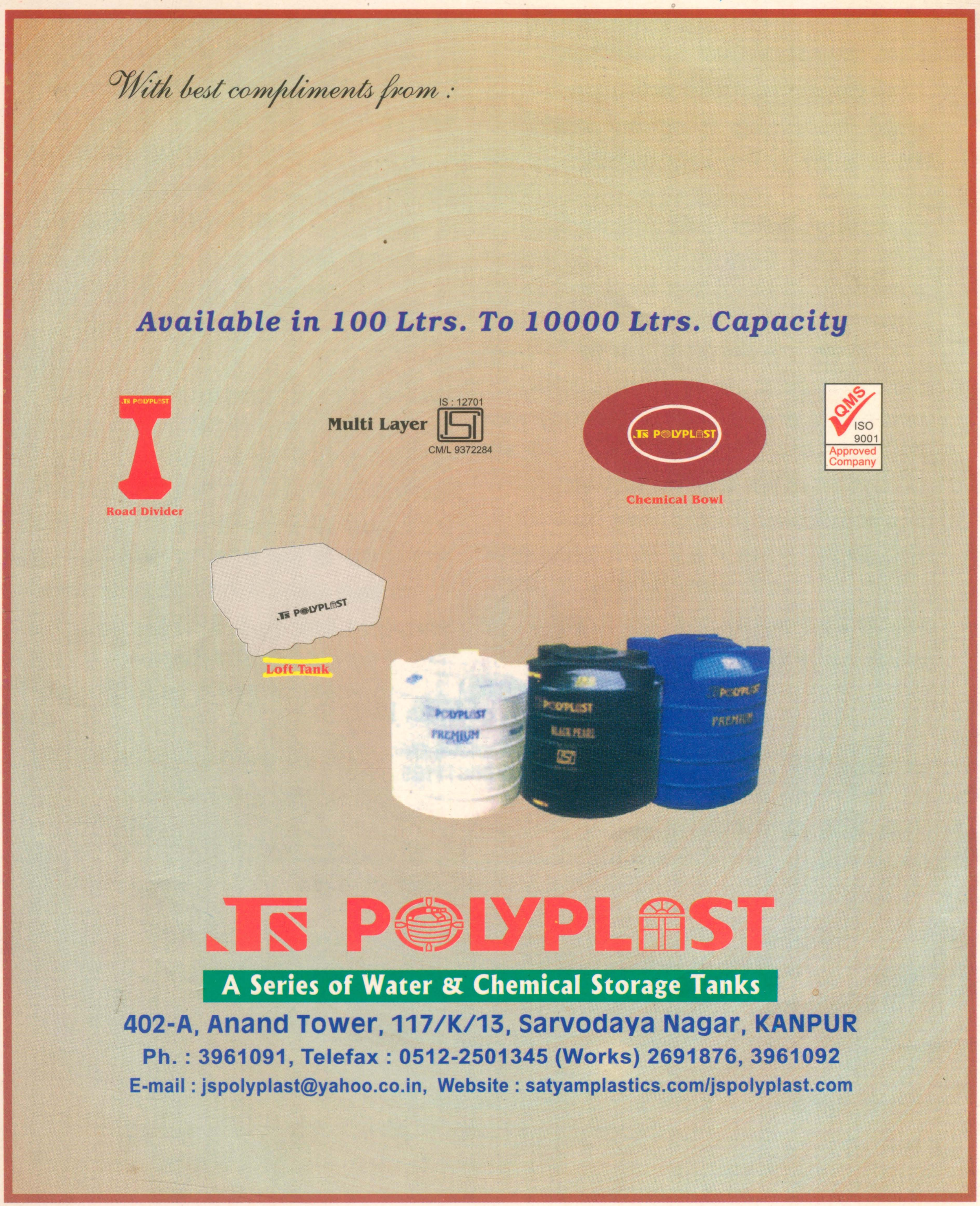

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।